योग साधना और तपश्चर्या की पृष्ठ भूमि

लेखक :

श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युगान्तर चेतना

शान्ति कुञ्ज, सप्तसरोवर, हरिद्वार

प्रथमबार] सन् १९७६ [मूल्य ७५ पैसा

आत्मिक प्रगति का एक चरण योग और दूसरा तप है। योग भावात्मक और तप क्रियापरक है। एक को सूक्ष्म दूसरे को स्थूल कह सकते हैं। मानवी सत्ता चेतन आत्मा और जड़ शरीर के समन्वय से बनी है। उन दोनों को ही परिष्कृत करना पड़ता है। भावशुद्धि और क्रियाशुद्धि दोनों आवश्यक हैं। भावशुद्धि को योग और क्रिया शुद्धि को तप कहा जाता है।

योग साधना से चरम लक्ष्य की प्राप्ति

योग का सामान्य अर्थ होता है--जोड़ना। आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ देने की प्रक्रिया अध्यात्म भाषा में 'योग' कहलाती है। इसे आरम्भ करने के लिए जिन क्रिया-कलापों को अपनाना पड़ता है उन्हें 'साधन' कहते हैं। साधना अपने आप में एक छोटा उपकरण मात्र है। उसका महत्व इसलिए है कि वह 'साध्य' को प्राप्त कराने में सहायता करती है। कई लोग साधन को ही 'साध्य' समझ बैठते हैं और उन उपचारों को ही योग कहने लगते हैं जो साधना प्रयोजन में प्रयुक्त होते हैं।

आत्मा को परमात्मा से मिला देने के लिए कुसंस्कारों से पीछा छुड़ाना पड़ता है और ईश्वरीय प्रेरणा का अनुगमन करते हुए अपनी अन्तरंग और बहिरंग स्थिति ऐसी बनानी पड़ती है जो ग्राह्मी कही जा सके। दूध और पानी एकरस होने से घुल सकते हैं। लोहा और पानी का घुल सकना कठिन है। हम अपने भौतिकतावादी स्तर से ऊँचे उठें और ईश्वरीय चेतना के अनुरूप अपनी क्रिया, विचारणा एवं आस्था को ढालें तो ईश्वर प्राप्ति का जीवन लक्ष्य पूरा हो सकता है। वियोग का अन्त योग में होना चाहिए—यही ईश्वर की इच्छा है। बच्चा दिन भर खेलकूद और पढ़ने-लिखने में संलग्न रहे, पर रात को घर लौट आये और एक ही बिस्तर पर सो जाये, ऐसी माता की इच्छा रहती है। परमात्मा भी अपने पुत्र आत्मा से ऐसी ही अपेक्षा करता है। उसकी इच्छा पूर्ण करने के लिए-अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए हमें जो चेतनात्मक पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसी का नाम योग साधना है। योग साधना में कई प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कृत्य अपनाने पड़ते हैं। इनका उद्देश्य आत्म चेतना को परमात्मा चेतना से जोड़ने वाली मनःस्थिति

उत्पन्न करना है। यह तथ्य ध्यान में रखकर चला जाय तो ही लक्ष्य की पूर्ति होनी सम्भव है। यदि चेतनात्मक परिष्कार के लिए प्रयत्न न किया जाय और मात्र उन क्रिया-कृत्यों को ही योगाभ्यास मान लिया जाय तो इस भ्रान्ति के कारण घोर परिश्रम करते रहने पर भी कोल्हू के बैल की तरह जहाँ के तहाँ बने रहना पड़ेगा।

शारीरिक श्रम में आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, व्रत, मौन, नेति, धौति, वस्ति, न्यौलि, वज्रोली, कपाल भाति, भूमिशयन, सर्दी-गर्मी सहना, कीर्तन आदि कितने ही उपचार काम में लाये जाते हैं इनका उद्देश्य स्वस्थता, समर्थता एवं पवित्रता उत्पन्न करना है। ताकि मल भारों से लदे व्यक्ति को आत्मिक प्रगति की लम्बी मंजिल पार करने में सुविधा हो। इसी प्रकार मानसिक उपासनाओं में—जप, ध्यान, नाद, एकाग्रता, तन्मयता, स्वाध्याय, सत्सङ्ग आदि साधनों का आश्रय लिया जाता है ताकि चेतना को दिशा एवं प्रेरणा दी जा सके और उसे अपनी जीव ससीमता को ब्रह्म असीमता में घुला देने के लिए आवश्यक प्रकाश एवं प्रशिक्षण मिल सके।

लक्ष्य विहीन साधना मनोरंजक भटकाव ही कहा जा सकता है। शारीरिक और मानसिक क्रियाकृत्यों को योगाभ्यास के आधार साधन मानना ही पर्याप्त है। उन कृत्यों को ही जादुई मान बैठना और उनकी प्रवीणता मिल जाने मात्र से लक्ष्य पूरा हो जाना मान लिया जायगा तो यह विशुद्ध भ्रान्ति ही सिद्ध होगी। प्रयत्न यह होना चाहिए कि आत्मा को परमात्मा से जोड़ देने पर उपयुक्त भाव चेतना उत्पन्न की जा सके। महत्व तो इस 'भाव उभार' का ही है। यह उभरेगा तो गाड़ी आगे चलेगी अन्यथा तथाकथित योगाभ्यासों की हलचलें कुछ समय तक श्रम-साधना में जितनी कुछ जैसी कुछ अनुभूति दे सकती है, उसे देकर समाप्त हो जायेंगी। भाव विहीन साधना से शरीर की स्वस्थता और मन की एकाग्रता भले ही कुछ सीमा तक बढ़ सके, आत्मिक प्रगति का

लक्ष्य पूरा न हो सकेगा। इसके लिए भावनायें तरंगित करनी पड़ेंगी। "भक्ति भावना, शब्द का प्रयोग इसीलिये किया जाता है कि उसमें भावनाओं का तरंगित होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसके बिना सारे अभ्यास निष्प्राण ही बने रहेंगे। यही कारण है कि क्रियाकृत्यों को सब कुछ मानकर उन्हीं की प्रवीणता के लिए माथापच्ची करते रहने वाले व्यक्ति प्रायः निराश रहते और असफलता की शिकायत करते ही पाये जाते हैं।

योग को चित्त वृत्तियों का निरोध कहा गया है। चित्त की वृत्तियाँ 'प्रेय' की —वासना, तृष्णा, मोह, अहंता आदि भौतिक लिप्सा लालसाओं की पूर्ति को ही सुखद मानती हैं, उन्हीं की इच्छा करती हैं और उन्हीं में निरत रहती हैं। पानी का स्वभाव नीचे की ओर गिरना है इस पतनोन्मुख प्रवृत्ति को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए वैसा ही प्रयत्न करना पड़ता है जैसे कुएँ से पानी खींचने अथवा तालाब का पानी टंकी में चढ़ाने के लिए। मन को ढीला छोड़ देने से वह जन्म जन्मान्तरों के संग्रहीत एवं अभ्यस्त पशु प्रवृत्तियों के अन्तर्गत में अपने आप घुस जायगा। घड़े से गिरते ही पानी नीचे की ओर बहने लगता है। चित्त का भी, यही स्वभाव है। उसे उलटने का जो पुरुषार्थ करना पड़ता है उसी को 'चित्त वृत्ति निरोध' कहा जायगा। महर्षि पातञ्जलि ने इसी प्रयास को योग कहा है।

कई व्यक्ति चित्त वृत्तियों के निरोध की बात को नहीं समझते और मात्र 'चित्त निरोध' को ही योग मान लेते हैं। उनका तात्पर्य 'एकाग्रता' से होता है। एकाग्रता होना ही उनकी दृष्टि में योगाभ्यास की सफलता है और उसका न होना असफलता। यह भ्रम है। एकाग्रता एक चीज है और एक धारा दूसरी। एकाग्रता का अपना महत्व और अपना लाभ है—उसका औचित्य और उपयोग समझा जा सकता है, पर एकाग्रता को ही योग का—उपासना का आधार मान बैठना गलत है

एकाग्रता के भी स्तर हैं, मैस्मरेजम, हिप्नोटिज्म में भी एकाग्रता प्रयुक्त होती है और देव प्रतिमा के समक्ष होकर उसकी पूजा, आरती, स्तुति आदि से भी एकाग्रता का पाठ पढ़ा जाता है। पीछे यह बढ़ते-बढ़ते उस स्थिति तक भी पहुँच सकती है जिसे तन्मयता, भाव समाधि, विचार शून्यता आदि का नाम दिया जा सके।

एकाग्रता की स्थिति समय-साध्य है, उसके लिए धैर्य और प्रयत्न पूर्वक बहुत समय तक अभ्यास करते रहने की आवश्यकता होगी। यह स्थिति न आये तो भी उतना हर्ज नहीं, जितना समझा जाता है। आत्मिक प्रगति के लिए मन की दिशा और धारा बदल देने की आवश्यकता है, उतने भर से 'चित्त वृत्ति निरोध' की—योग की आवश्यकता पूरी होने लगती है।

इसके लिए 'प्रेय' की लिप्सा 'श्रेय' की आकांक्षा में बदली जानी चाहिए। पेट, प्रजनन भर के लिए जीने में संलग्न पशु स्तरीय प्रवृत्ति को बदल कर आत्मा को परमात्मा स्तर तक विकसित करने की देव स्तरीय प्रवृत्ति में प्रवेश करना चाहिए। आकांक्षाएँ बदल जाने से मन की विचारणा और शरीर की कार्य पद्धति में काया कल्प प्रस्तुत हो जायगा। प्रेय की निरर्थकता और श्रेय की सार्थकता में विश्वास बढ़ चले तो उसका प्रभाव कल्पना क्षेत्र तक सीमित न रहकर व्यावहारिक जीवन के हर क्षेत्र में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगेगा।

जीवन का लक्ष्य समझा जाना चाहिये और प्रगति की दिशा अपनाई जानी चाहिए। निरुद्देश्य जीने से हवा के साथ-साथ उड़ते फिरने वाले पत्तों जैसी दुर्गति होती है। वे यत्र-तत्र सर्वत्र भटकते भर हैं, पहुँचते कहीं नहीं—पाते कुछ नहीं। जीवन का सुनिश्चित लक्ष्य अपूर्णता को पूर्णता में विकसित करना—आत्मा को परमात्मा स्तर तक पहुँचाना ही है। उसे जितनी जल्दी समझा और अपनाया जा सके उतना ही उत्तम है। शरीर रक्षा और परिवार पोषण के लिए उपार्जन

तथा व्यवस्था सम्बन्धी कार्य भी किये जाने चाहिए किन्तु उतने भर में सीमित न हो बैठा जाय । यह ध्यान पूरी गम्भीरतापूर्वक रखा जाना चाहिए कि सुरदुर्लभ मनुष्य शरीर किसी विशेष उद्देश्य के लिए मिला है और उसे पूरा करने में ही दूरदर्शी बुद्धिमत्ता है। अन्तःकरण में यह तथ्य निरन्तर जागृत बना रहे तो समझना चाहिए कि उपयुक्त जीवन दिशा मिल गई और उसके प्रकाश में सद्भावनाएँ अपनाये रहने तथा सत्प्रवृत्तियों में संलग्न रहने की धारा बह चलेगी। एक दिशा। एक लक्ष्य, एक आकांक्षा, एक प्रेरणा यदि निश्चित हो जाय तो फिर शरीर और मन को उसी ओर चल पड़ने की बात बन जाती है और धीरे-धीरे चलते रहने पर भी देर सबेर में मनुष्य वहाँ जा पहुँचता है जहाँ पहुँचा देख कर उसका साथी चमत्कार हुआ या देवता का वरदान मिला मानने लगता है।

आत्मा को-परमात्मा से मिलाने वाली यही सड़क है। श्रेय की प्राप्ति को लक्ष्य मान कर चलने से चित्त वृत्तियों में पूर्व की अपेक्षा असाधारण परिवर्तन हो जाता है। निकृष्टता उत्कृष्टता की दिशा में उलट पड़ती है इसी ऊर्ध्व गमन को चित्तवृत्ति निरोध कहा जाता है। पतनोन्मुख पशु-प्रवृत्तियाँ जब उत्थान की दिशा में देव प्रवृत्तियों का रूप बना लेती हैं तो उस स्थिति को योग स्थिति कह सकते हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आत्मा को परमात्मा के साथ जुड़ने में क्या रुकावट है जिसके लिए योग साधना की आवश्यकता पड़ती है? तत्त्वदर्शियों ने उसके दो कारण बतलाये हैं। एक है उसका बद्ध होना तथा दूसरा है उसका विकृत होना। लोह के खनिक में लोहा होता है, किन्तु वह लोहे के दूसरे टुकड़े के साथ तब तक नहीं जोड़ा जा सकता जब तक वह शुद्ध नहीं हो जाता। इसी प्रकार रस्सी का सिरा पकड़कर कोई भी ऊपर चढ़ सकता है। किन्तु यदि वह व्यक्ति उसी रस्सी के सिरे से अपने आपको किसी नीचे की वस्तु से बाँधेगे तो बन्धन

खुले बिना वह बढ़ नहीं सकता। जीव को योग स्थिति में जाने से जो विकृति और बन्धन रोकते हैं उनका स्वरूप समझना तथा उनके निवारण का ढंग भी योग के साधक को समझना चाहिए।

जीवात्मा ईश्वर का अंश है। समुद्र की लहरों और सूर्य की किरणों से उसकी तुलना की गई है। इस भिन्नता को घटाकाश और मठाकाश के रूप में भी समझाया जाता है। घटाकाश अर्थात् घड़े के भीतर की सीमित पोल और मठाकाश अर्थात् विशाल विश्व में फैली हुई पोल। घड़े के भीतर की पोल वस्तुतः ब्रह्माण्ड-व्यापी पोल का ही एक अंश है। घड़े की परिधि से आवृत्त हो जाने के कारण उसकी स्वतन्त्र सत्ता दिखाई पड़ती है, पर तात्विक दृष्टि से वह कुछ है नहीं। घड़े के आवरण ने ही यह पृथक रूप से देखने और सोचने का झंझट खड़ा कर दिया है। शान्त समुद्र में लहरें नहीं उठतीं, पर विक्षुब्धता की स्थिति में वे अलग-सी लगतीं हैं और उछलती दिखाई पड़ती हैं। सूर्य के तेजस की विस्तृत परिधि ही उसके किरण विस्तार की सीमा है। सूर्य सत्ता का जहाँ तक जिस स्तर का विस्तार है वहाँ तक उसी स्तर की धूप का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है। इस प्रभा विस्तार की जो विभिन्न प्रकार की हलचलें हैं उन्हीं को किरणें कहते हैं। किरणों का सात रंगों में अथवा अल्ट्रावायलेट, अल्फावायलेट एक्स-लेसर आदि में अलग से जाना माना जा सकता है, पर यह विभाजन सूर्य से भिन्न किसी पृथक सत्ता का भान नहीं करता। ऐसे ही उदाहरणों से जीवन और ईश्वर की एकता भिन्नता समझी जा सकती है।

पानी में से असंख्य बुलबुले उठते, तैरते और फिर उसी में समा जाते हैं। विश्व-व्यापी अग्नि तत्व तीली या लकड़ी में प्रकट और प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। आग बुझ जाने से वह उसी मूल सत्ता में लय हो जाता है। इन उदाहरणों में भी जीव और ईश्वर की पृथकता एवं एकता का अनुमान लगाया जा सकता है। एक बड़ा ढेला फूटकर एक-

कण के रूप में बिखर जाता है। पानी ऊपर से गिरने पर जमीन से टकरा कर जाता है और उसकी बूँदें अलग से छितराती हुई दीखती है। जीव और ईश्वर की पृथकता के सम्बन्ध में ऐसे ही उदाहरणों से वस्तु-स्थिति समझी जा सकती है। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म ने 'एकोऽहम् बहुस्याम' की इच्छा की और उसने अपने आपको टुकड़ों में बखेर दिया यह बिखराव प्रकृति के साथ संयुक्त हुआ और इसके साथ घुलकर अहन्ता का आवरण अपने ऊपर लपेट बैठा। सूखी मिट्टी पर जब पानी पड़ता है तो वह गीली हो जाती है और उस पर काई तथा दूसरी वनस्पति जमने लगती है। आत्मा के अंश प्रकृति के साथ मिलकर भांति-भांति तीतर, बगैर बटेर बन जाते है। कच्ची धातुएँ खदान से मिट्टी मिली स्थिति में निकलती हैं, पीछे उन्हें भट्टी में डालकर शुद्ध किया जाता है। जीव को मिट्टी मिला लोहा कहा जा सकता है। जिसमें प्रकृति और पुरुष दोनों का समन्वय है।

जीव की मूल सत्ता ईश्वरीय है। चेतना का समुद्र इस विश्व में एक ही है। उससे भिन्न या प्रतिपक्षी दूसरी कोई सत्ता देवी-देवताओं के या जीवों के रूप में कहीं नहीं है। तत्ववेत्ताओं ने जाना है—"यही केवल एक है दूसरा नहीं।" जीव की पृथकता प्रकृति के समन्वय से है। प्रकृति के तीन स्तर सत, रज, तम कहलाते हैं। इन्हीं तीनों को तीन परतें जीव के ऊपर चढ़ जाती हैं और ये तीन शरीर कहलाती हैं। स्थूल शरीर अर्थात् हाड़-मांस की जन्मने मरने वाली काया। सूक्ष्म शरीर अर्थात् बुद्धि संस्थान, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, जचने-खिरने का अन्तर करने वाला मस्तिष्कीय विचार विस्तार। कारण शरीर अर्थात् मान्यताओं एवं भावनाओं का समुच्चय—अन्तरात्मा। जिसे अन्तःकरण भी कहा गया है। इन तीन शरीरों की यों प्याज के छिलके, केले के तने या एक के ऊपर एक पहने हुए वस्त्रों से तुलना की जाती है, पर यह उपमा बहुत ही अधूरी है। कारण कि यह सब आवरण एक दूसरे से

पृथक हैं जबकि शरीर एक-दूसरे के साथ इस प्रकार घुले हुए हैं जैसे दूध में घी, सरसों में तेल। प्रयत्न पूर्वक इन्हें पृथक किया जा सकता है। मृत्यु के उपरान्त स्थूल और सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है। क्लोरोफार्म सुँघा देने या गहरी नींद आ जाने पर सूक्ष्म शरीर का चेतन भाग मूर्च्छित हो जाता है, अचेतन भाग जागता रहता है। समाधि अवस्था में सूक्ष्म शरीर को कारण से अलग किया जा सकता है। मुक्ति अवस्था में कारण शरीर का आवरण भी छूट जाता है और बूँद समुद्र में समा जाने की तरह आत्मा का लय परमात्मा में हो जाता है। इस प्रकार यह तीनों ही आवरण हटाये तथा मिटाये जा सकते हैं, पर सामान्य स्थिति में ये परस्पर घुले-मिले ही रहते हैं।

जीव को इन आवरणों में लिपटे रहने से कई तरह के—कई स्तर के सुख मिलते हैं, इसलिए वह उन्हें छोड़ना नहीं चाहता फलतः 'बद्ध' अवस्था में बना रहता है। स्थूल शरीर में कई प्रकार के वासनात्मक सुख हैं। सूक्ष्म शरीर में कल्पना लोक के मनोरम स्वप्न, विनोद, मनोरंजन, सफलता, पद, सम्मान, वैभव आदि के बुद्धि-विलास के अनेकों साधन मौजूद हैं। कारण शरीर में 'अहंता' की गहरी परतें जमी हैं। 'मैं' अत्यन्त प्रिय है। इस 'मैं' की परिधि में जितना क्षेत्र आता है, वह मेरा बन जाता है और जिस प्राणी या पदार्थ पर यह 'मेरापन' आलोकित होता है वह भी प्रिय लगने लगता है। आकांक्षाओं की उमंग इसी केन्द्र से उठती है। मान्यताओं की आस्था और संवेदनाओं की पुलकन खट्टी-मीठी गुदगुदी देते हैं, पर कुल मिलाकर वह है—मधुर। जीवन में प्रिय-अप्रिय प्रसङ्ग आते-जाते रहते हैं, पर कुल मिलाकर स्थिति ऐसी है जिसके कारण इन तीनों शरीर आवरणों को छोड़ने को मन नहीं करता। फलतः जीव सत्ता का ऐसा समग्र अस्तित्व बन जाता है जिसे स्वतन्त्र भी कहा जा सकता है।

दर्शन-शास्त्र के सभी पक्षों ने ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों

का अस्तित्व तो माना है, पर उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में अपने अपने विचार भिन्न रूप से व्यक्त किये हैं। त्रैत, द्वैत, और अद्वैत मान्यताओं में इसी प्रकार का मतभेद है। त्रैतवादी कहते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति की तीनों सत्ताएँ अनादि एवम् स्वतन्त्र हैं—उनका सह अस्तित्व भर है। द्वैतवादी, ब्रह्म और माया—पुरुष और प्रकृति की दो सत्ताएँ मानते हैं, उनकी दृष्टि में जीव का इन दोनों का समन्वय ऐसा ही है जैसा दिन और रात के मिलन से उत्पन्न हुआ सन्ध्या काल। अद्वैत मत में एक ही ब्रह्म चेतना की सत्ता को जड़ और चेतन के रूप में माना गया है। प्रकृति ब्रह्म का विकार है और यहाँ जो कुछ दीख भास रहा है यह बुद्धि विपर्यय का ऐसा ही जादू है जैसा इन्द्र धनुष का अथवा स्वप्न संसार का दीखना। इस स्थिति को भ्रान्ति अथवा माया कहा गया है।

इन्हें नाम कुछ भी दिया जाय और इनकी दार्शनिक व्याख्यायें चाहे जितने ढंग से की जावें किन्तु यह तथ्य अपरिवर्तित ही रहता है इस मनुष्य को विवशता से ऊपर उठने तथा परम लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए हर स्तर पर प्रयास करना ही चाहिए। योग का साधक यही करता है। योगी अपने स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर तीनों ही को ही अवांछनीयताओं से 'मुक्त' करके बाध-नीयता से 'मुक्त' करने का प्रयास करता है। इसके लिए तीनों शरीरों के पूर्व संस्कारों को साधना अभ्यास द्वारा छुड़ाकर उन्हें अपने नियंत्रण में लेकर सही दिशा में नियोजित करता है। इस दृष्टि से योग साधना में एक पक्षीय क्रिया काण्डों तक सीमित न रहकर क्रिया विचारणा और भावना का समुचित समावेश रहता है।

हमें योग स्थिति से वञ्चित रखने वाली हमारी पराधीनता—मात्र चिर-संचित संस्कारों की है जो स्वभाव बनकर हमारे चिन्तन एवम् कर्म को अपने ढर्रे पर चलाती है—अपनी लाठी से हाँकती है। शरीर को

यह पराधीनता, वासना के बन्धन में बाँधकर बेतरह घसीटती है उसका स्वास्थ्य चौपट करती है, दीर्घजीवन से वंचित करती है और सत्कर्म निरत रहकर समृद्धियां, सफलताएँ प्राप्त करने के स्थान पर ऐसा कुछ करते रहने में लगाती है जिनके कारण रुग्णता, निन्दा, असफलता, दरिद्रता, कुरूपता जैसी विपन्नताएँ ही आये दिन सामने खड़ी रहती हैं। विवेक कई बार सोचता है कि अपनी गतिविधियों में अमुक प्रकार का परिवर्तन करना चाहिए। किन्तु औचित्य समझते हुए भी वैसा कुछ बन नहीं पड़ता। आदतें इतनी जबरदस्त सिद्ध होती हैं कि उपयोगी सुधार के मनसूबे एक कोने में रखे रह जाते हैं और आदतें अपनी बेढङ्गी राह पर शरीर को घसीटती चली जाती हैं और वे काम कराती हैं जिनके लिए पीछे पश्चाताप ही करना शेष रह जाता है। यदि आदतें शरीर का संचालन न करें, विवेक के हाथ से नियन्त्रण, संचालन किया जाने लगे तो स्वास्थ्य, सौन्दर्य, दीर्घजीवन जैसी उपलब्धियाँ तो अति साधारण हैं, समर्थ काया से अभीष्ट प्रयोजनों में आश्चर्यजनक सफलताएँ देने वाले पराक्रम पुरुषार्थ का अभिनव स्रोत खुल सकता है और उसके फलस्वरूप जो जीवन लाभ मिल सकता है, उसकी कल्पना मात्र से आँखें चमकने लगती हैं। दुर्बल शरीर इन्द्रिय सुख की लिप्सा भर में लगा रहता है, साधन उपस्थित होने पर भी वह उनका समुचित आनन्द नहीं ले सकता। भोजन का आनंद कड़ाके की भूख लगने वाले को ही मिल सकता है। रतिक्रीड़ा एवं गहरी निन्द्रा का लाभ शरीरपर नियंत्रण रख सकने वाले ही भोगते हैं। आलस्य, प्रमाद को भगाकर व्यवस्थित दिनचर्या बनाना और उस पर निष्ठापूर्वक आरूढ़ रहना—सफलताओं का प्रधान आधार माना गया है। शरीर भौतिक पदार्थों से बना है, भौतिक जगत से सीधा सम्बन्ध उसी का है। समर्थ शरीर ही भौतिक उपलब्धियों का केन्द्र होता है।

अपनी शारीरिक क्षमताओं का उपयोग भौतिक की तरह आत्मिक

प्रगति में भी आवश्यक है। इसी लिए योग साधना में शरीर को स्वस्थ तथा आत्म नियंत्रित बनाने के लिए अनेक साधनाओं का उल्लेख मिलता है। शरीर क्षेत्र की साधनायें चाहे हठयोग सम्मत हों चाहे कर्मयोग सम्मत उनका उद्देश्य शरीर को आत्म नियंत्रित बनाकर सही उद्देश्य की ओर नियोजित करने की स्थिति तक पहुंचाना ही है। शरीर गत चमत्कारों की दृष्टि से उन्हें अपने लक्ष्य से भटक जाना ही कहा जाता है। यह तो एक पक्ष हुआ योगी को तो अन्य पक्षों पर भी समान रूप से ध्यान देना होता है।

सूक्ष्म शरीर के क्षेत्र में हमारा चिन्तन उस ढर्रे में ढला हुआ होता है, जिसकी प्रतिक्रिया ही हमें अर्धविक्षिप्त स्तर का बनाये रहती है। कितने प्रकार की सनकें, कितने वहम, कितने भ्रम मस्तिष्क में लदे होते हैं यदि उन्हें ठीक तरह समझा जाय तो प्रतीत होगा कि विवेकवान व्यक्ति की तुलना में 'आम आदमी' निस्सन्देह अधपगला होता है। लोक-प्रवाह का संशोधन करने अवतारी आत्माएँ उतरती हैं उनके चले जाने के बाद फिर विकृतियाँ भरने लगती हैं और सामाजिक प्रचलनों में गन्दे नाले जैसी गन्दगी भरती चली जाती है। जन मान्यताएँ—लोगों के प्रचलित ढर्रे ही अपने को दुहराने लगते हैं। कुरीतियों, मूढ़ मान्यताओं, अन्धविश्वासों के सहारे न जाने कितनी उपहासास्पद भ्रांतियाँ मस्तिष्क में जड़ जमाकर बैठ जाती हैं। लोगों में प्रचलित भ्रष्टाचार अपने को भी लपेट लेता है। विकृत चिन्तन के कारण मनुष्य न सोचने योग्य सोचता है और बाल बुद्धि की योजनाएँ बनाकर उनमें बहुमूल्य विचार शक्ति को नष्ट करता रहता है। चिंता, निराशा, खीज, आवेश, उत्तेजना, निष्ठुरता, घबराहट, कायरता, कृपणता, ईर्ष्या, द्वेष, आत्म-हीनता, उद्दण्डता जैसे अनेकों मानसिक रोग मस्तिष्क को घेरे रहते हैं और सौ रोगों से ग्रसित शरीर की जो दुर्गति होती है वैसी ही ये मनोविकार, विचार संस्थान को, सूक्ष्म शरीर

को बनाये रहते हैं। यह मनोगत कुसंस्कारों की, विनाश विकृतियों की, पराधीनता है जिसके कारण हर दृष्टि से 'अद्भुत' विचारणा सर्वनाश के गर्त में गिरती और नष्ट होती रहती है।

यदि कुसंस्कारों के बन्धनों से मस्तिष्क को छुटकारा मिल सके तो प्रस्तुत चिन्तन तन्त्र का सुव्यवस्थित सदुपयोग करके कोई भी व्यक्ति विद्वान, वैज्ञानिक, कलाकार, दूरदर्शी, मनीषी बन सकता है। विचारणा को सन्मार्गगामी बना सकने वाले व्यक्ति—सामान्य साधनों के बल पर—सामान्य परिस्थितियों में रहते हुए—व्यक्तित्व को परिष्कृत ढाँचे में ढाल सकते हैं और महामानवों की श्रेणी में गिने जा सकने की स्थिति में सरलतापूर्वक जा पहुँचते हैं। ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन तत्व का विश्लेषण करते पर विशेषता एक ही दिखाई पड़ती है कि उन्होंने अपने चिन्तन तन्त्र को व्यवस्थित किया, अभ्यस्त विचार पद्धति का नये सिरे से पर्यवेक्षण किया, अनौचित्य को साहस पूर्वक सुधारा और विवेक का आश्रय लेकर विचारणा को उत्कृष्टतीय बनाया। लोक-प्रवाह के विपरीत आदर्शवादी मौलिकता अपनाई, फल-स्वरूप उनका चिन्तनात्मक काया-कल्प हो गया। आरम्भ में ऐसे लोगों का मखौल बनता और विरोध होता है, पर जब वे अपनी निष्ठा का परिचय देते हैं तब दुनिया उनके चरणों में झुक जाती है और सिर आँखों पर बिठाकर भाव भरी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती है।

परिष्कृत सूक्ष्म शरीर—चिन्तन की उत्कृष्टता के कारण स्वयं हर घड़ी सदा सन्तुष्ट, उल्लसित एवम् प्रफुल्लित बना रहता है। अवाञ्छनीय मानसिक भार से छुटकारा पाने के कारण उसकी सूझ-बूझ, दूरदर्शी, तत्वदर्शी बन जाती है और उसका लाभ न केवल सम्पर्क क्षेत्र को वरन् समस्त संसार को मिलता है।

मस्तिष्क का कुल मिलाकर प्रायः सात प्रतिशत भाग काम में आता है, शेष ९३ प्रतिशत प्रसुप्त स्थिति में पड़ा रहता है। इसे जागृत

करना अपने भीतर की असंख्यों अतीन्द्रिय क्षमताओं का विकास कर लेना है। मस्तिष्क की तुलना का चमत्कारी सूक्ष्म यन्त्र इस संसार में और कोई नहीं है, इसे यदि प्रयत्नपूर्वक सक्षम बना लिया जाय तो कालिदास जैसे मन्द बुद्धि भी मूर्धन्य विद्वान बन सकते हैं। चमत्कारी सिद्धियों के नाम से कितने ही विशिष्ट कौशल कई सिद्ध पुरुषों में यदा कदा देखे जाते हैं यह और कुछ नहीं जादू की पिटारी— मस्तिष्कीय चेतना की फुलझड़ियाँ मात्र हैं। इन्द्रिय शक्ति से—मनःशक्ति से हम परिचित हैं, इसलिए उसके द्वारा दैनिक जीवन में प्रस्तुत होते रहने वाले चमत्कारों को 'सामान्य' माना जाता है। अचेतन अविज्ञात है इसलिए उसकी जागृति अतीन्द्रिय शक्ति अद्‌भुत—अलौकिक लगती है, पर वस्तुतः चमत्कार जैसी कोई चीज इस संसार में है नहीं। जो कुछ है प्रकृति व्यवस्था के पूर्णतया अनुकूल ही है। चमत्कारी सिद्धियाँ भी प्रसुप्त अतीन्द्रिय क्षमता का ऐसा जागरण है जो आमतौर से देखा, सुना नहीं जाता। ऐसे तो नये आविष्कार भी कुछ दिन तक चमत्कार ही कहे जाते रहे हैं।

तीसरा आधार—कारण शरीर की चेतना की आस्थाएँ सुधर जाने से मनुष्य महात्मा, देवात्मा एवं परमात्मा बन सकता है। यह वह ध्रुव केन्द्र है जहाँ आत्मा और परमात्मा का पारस्परिक पतला सा सम्बन्ध सूत्र जुड़ा हुआ है उसे तनिक सा और परिष्कृत कर दिया जाय तो ब्रह्म चेतना का—जीव चेतना विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और ऐसे आदान-प्रदान का पथ-प्रशस्त कर सकता है जिसके आधार पर नर में नारायण का अवतरण प्रत्यक्ष देखा जा सके। ऐसी स्थिति में पहुँची हुई आत्माओं की देव संज्ञा होती है। देवताओं की अलौकिकता कथा पुराणों में भरी पड़ी है। उन्हें इन देव पुरुषों में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

इस स्तर को लाने के लिए योग साधक को चिन्तन तथा साधना पक्ष

साधनायें करनी पड़ती हैं। मनुष्य की विचार क्षमता और भाव क्षमता स्थूल क्षमता की अपेक्षा कई गुनी अधिक महत्वपूर्ण है। उनकी दिशा अधोगामी आकर्षणों से हटाकर उच्चस्तरीय उद्देश्यों के साथ जोड़ना योगी की कुशलता और साधना की प्रखरता पर निर्भर करती है। इसके लिए अनेक चिन्तन तथा अनुभूति परक ध्यान साधनायें की जाती हैं। उनके सहारे जीव अपने को संसारी न समझकर ईश्वर का अंग प्रतिनिधि मानने-समझने लगता है। यह एकता की अनुभूति- उसका चिन्तन योग साधना का महत्वपूर्ण अंग है।

इस प्रकार की साधना से साधक के विचार और भावना क्षेत्र में क्रांतिकारी मोड़ आ जाता है यह समझने लगता है कि "हम विश्व चेतना के एक अंश मात्र हैं। समष्टि ही आधार भूत सत्ता है, हम उसकी छोटी चिनगारी भर हैं"! एकता को शाश्वत समझा जाय पृथकता को कृत्रिम। सब में अपने को और अपने को सब में समाया हुआ, देखा, समझा और माना जाय। सबके हित में अपना हित सोचा जाय। सबके दु:ख में अपना दु:ख माना जाय सबके सुख में अपना सुख। सबका उत्थान अपना उत्थान, सबका पतन अपना पतन। यह मानकर चलने से सीमित परिधि में सुखी होने की क्षमता घटती है और व्यापक क्षेत्र में सुख सम्वर्धनकी योजना सामने आती है।"

सीमा सङ्कीर्णता को अवास्तविक मानने से व्यक्तिवाद पर अवलम्बित स्वार्थपरता घटती चली जाती है। अपने को बड़ी मशीन का एक छोटा पुर्जा भर समझने से यह बात ध्यान में रहती है कि उसकी निजी उप-योगिता भी पूरी मशीन का अङ्ग बनकर रहने में ही है। अलग निकल-कर अलग से — अलग बड़प्पन और सुखोपभोग की बात सोची जायगी तो यह पृथकता अपनाकर कुछ लाभ नहीं उठाया जा सकेगा। हानि ही होगी। बड़ी से अलग निकल कर एक पुर्जा बाजार में बिकने चला जाय तो उसे कोई दो कौड़ी का न पूछेगा और मिलने पर उपेक्षापूर्वक

इधर-उधर भटक देगा, पर यदि वह पूरी घड़ी के साथ हो तो घड़ी को मिलने वाले सम्मान में वह भी समान रूप से भागीदार बना रहेगा। पृथकतावादी स्वार्थपरता पर अंकुश लगाने और समूहवादी गतिविधियाँ अपनाने में यह एकता का दर्शन बहुत काम करता है।

अपनापन ही प्यारा लगता है। यह आत्मीयता जिस पदार्थ अथवा प्राणी के साथ जुड़ जाती है, वही आत्मीय परमप्रिय लगने लगता है। अपनेपन का दायरा छोटा हो तो मात्र शरीर की—बहुत हुआ तो परिवार की सुख सुविधा सोची जाती रहेगी। यह थोड़ा-सा क्षेत्र ही अपना प्रतीत होगा और उतने तक ही प्रिय लगने की परिधि सीमित बनकर रह जायगी। यह क्षेत्र जितना अधिक बढ़ेगा, उतनी ही प्रियता की परिधि विस्तृत होती चली जायगी। सभी अपने लगेंगे तो अपना परिवार अत्यन्त सुविस्तृत बन जायगा। प्रिय पात्रों की मात्रा जितनी ही बढ़ती है उतना ही सुख सन्तोष मिलता है यदि व्यापक क्षेत्र में आत्मीयता विस्तृत करली जाय तो अपनेपन का प्रकाश बढ़ता जायगा और उस सारे क्षेत्र का वैभव परमप्रिय लगने लगेगा। उन्नति में—वृद्धि और विस्तार में हर किसी को गर्व गौरव अनुभव होता है। बड़े उत्तरदायित्व समझना ही बड़प्पन का चिन्ह है, यह अनुभूतियाँ उन्हें सहज ही मिल सकती हैं जो सीमा बन्धनों की क्षुद्रता को निरस्त करके समष्टि के साथ जुड़े हुए कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए कटिबद्ध होता है।

एकता का दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि अंशी के सारे गुण सूक्ष्म रूप से अंश में विद्यमान रहते हैं। अस्तु, परमात्मा की समस्त विशेषताएँ तथा सम्भावनाएँ आत्मा में विद्यमान हैं और उन्हें विकसित करने के साधन जुटाकर उच्चतम स्तर तक पहुँचाया जा सकता है। चिनगारी में वे सभी सम्भावनाएँ मौजूद रहती हैं जो दावानल में पाई जाती हैं। विशाल वृक्ष का सारा ढाँचा बीज के भीतर मौजूद

है। प्राणी की आकृति और प्रकृति का अधिकांश स्वरूप उस नन्हे से शुक्राणु में पूरी तरह मौजूद रहता है जो आँखों से दिखाई तक नहीं पड़ता। ब्रह्माण्ड के ग्रह-नक्षत्र जिस नीति-रीति पर अपना क्रियाकलाप चला रहे हैं उसी का अनुकरण सौर-मण्डल करता है और उसी लकीर पर अणु-परमाणुओं के परिभ्रमण प्रयास चलते हैं। छोटे-से परमाणु के भीतर एक पूरे सौरमण्डल का नकशा देखा जा सकता है। एटम के भीतर काम कर रहे—इलेक्ट्रोन, प्रोट्रोन, न्यूट्रोन आदि की भ्रमण गतियाँ तथा कक्षाएँ लगभग वैसी ही हैं जैसी कि सौर-मण्डल के ग्रह-उपग्रहों की।

इस तथ्य को समझ लेने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव की मूलसत्ता— गुणों की दृष्टि से ईश्वर के समतुल्य ही है। इस सम्भावना को विकसित करना मनुष्य जीवन में ही सम्भव हो सकता है। अस्तु उच्च पद प्रदान करने में नियोजित की जाने वाली प्रतियोगिताओं की तरह ही अपना मनुष्य जीवन मिला हुआ है। परीक्षा में भाग लेने का अवसर जिन्हें मिला है वे अपनी प्रतिभा और पुरुषार्थ परायणता का परिचय देकर उत्तीर्ण होने का प्रमाण पत्र प्राप्त करते और प्रतियोगिता जीत कर उच्च पद प्राप्त करते हैं। ऐसा ही अवसर मनुष्य जीवन के रूप में भी मिला हुआ है। उसकी सार्थकता इसमें है कि अपने छोटे-से जीवात्मा स्तर को विकसित करके महात्मा देवात्मा की कक्षायें पार करते हुए परम आत्मा उत्कृष्टतम आत्मा बनने की पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करे। उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व की उदात्त रीति नीति अपनाने वाले ही इस महान् जीवन लक्ष्य को प्राप्त करते देखे जाते हैं।

मनुष्य जीवन भगवान का प्राणी को दिया गया सबसे बहुमूल्य उपहार है। इससे अधिक महत्वपूर्ण चेतन संरचना उसके भण्डार में और कोई नहीं है। इसे अनुपम और अद्भुत कह सकते हैं। चेतना,

सोचना, शिक्षा, कला, आजीविका-उपार्जन, भोजन निश्चिन्तता, वस्त्र, निवास, चिकित्सा, वाहन, परिवार, समाज, शासन, कृषि, पशुपालन, वैज्ञानिक उपकरण एवं अनेकानेक सुख-साधनों की सुविधा सृष्टि के अन्य किसी प्राणी को प्राप्त नहीं है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सभी प्राणी ईश्वर के पुत्र हैं। एक समदर्शी पिता को अपनी सन्तानों के साथ समान व्यवहार करना चाहिए और समान अनुदान देने चाहिए। फिर ऐसा क्यों हुआ कि मनुष्य को ही इतना अधिक दिया गया और अन्य प्राणी उससे वंचित रखे गये ? यदि यह सब विभूतियाँ मात्र मौज मजा करने के लिए ही मनुष्य को मिली होतीं तो निश्चय ही इसे अन्याय और पक्षपात कहा जाता, किन्तु परमात्मा न तो ऐसा है और न ऐसी नीति अपना सकता है जो उसके महान गौरव पर उँगली उठाने का अवसर देती हो। मनुष्य को अधिक विश्वस्त—अधिक प्रामाणिक और अधिक समझदार बड़ा पुत्र माना गया है और उसके हाथ में वे अतिरिक्त साधन सौंपे गये हैं, जिनके सहारे वह ईश्वर के इस सुरम्य उद्यान संसार को अधिक सुन्दर, अधिक सुविकसित, अधिक समुन्नत और अधिक सुसंस्कृत बना सके।

खजानची के पास ढेरों सरकारी रुपया रहता है, शस्त्र भाण्डागार का स्टोरकीपर सेना के हथियार और गोला-बारूद अपने ताले में रखता है, मिनिस्टरों को अनेकों सुविधा साधन एवं अधिकार मिले होते हैं। यह सब विशुद्ध रूप से अमानतें हैं। इन्हें निजी लाभ के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। खजानची, स्टोरकीपर, मिनिस्टर आदि यदि अपने अधिकार की वस्तुओं को निजी उपयोग में खर्च करने लगें तो यह उनका अपराध माना जायगा और दण्ड मिलेगा। ठीक इसी प्रकार मनुष्य को जो मिला है वह संसार को अधिक सुखी समुन्नत बनाने के लिए मिली हुई धरोहर के रूप में है। उसमें से औसत नागरिक के स्तर का निर्वाह भर अपने उपयोग में लिया जा सकता है इसके

अतिरिक्त समय, श्रम, ज्ञान एवं धन के, पद प्रभाव आदि के रूप में जो वैभव मिला है, उसका जितना अंश शेष रह जाता है उसे लोक-मङ्गल के लिए नियोजित किये रहना मनुष्य जीवन का दूसरा प्रयोजन है।

पूर्णता प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होते हुए अनुकरणीय, आदर्श एवं पवित्रतम देव जीवन जिया जाय और शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक उपलब्धियों में से न्यूनतम अंश अपने लिए लेकर शेष का परमार्थ प्रयोजनों में उपयोग किया जाय यही है ईश्वरप्रदत्त सुर-दुर्लभ मानव जीवन के अलभ्य अवसर का श्रेष्ठतम उपयोग। राजघरानों में यह प्रथा थी कि बड़े बेटे को राजगद्दी पर बिठाया जाता था और वह युवराज ही समयानुसार पिता के सारे उत्तरदायित्वों को वहन करता था छोटे भाई-बहनों की सुव्यवस्था का भार भी उसी के कन्धे पर रहता था। समझा जाना चाहिए कि राजाधिराज परमेश्वर का ज्येष्ठ पुत्र — युवराज — मनुष्य है उसे अन्य जीव-धारियों की तुलना में जितना कुछ अधिक मिला है वह सब विशेष उद्देश्य के लिए है। उसे विलासिता, संग्रह अहङ्कार के उद्धत प्रदर्शन एवं औलाद के लिए मुफ्त का धन छोड़ जाने जैसे हेय प्रयोजनों में खर्च नहीं किया जाना चाहिये। अमानत को धरोहर को उसी प्रयोजन में लगाया जाना चाहिये जिसके लिए वह मिली है।

शरीर और मन जीवन रूपी रथ के दो पहिए—दो घोड़े हैं। इन्हें काम करने के दो हाथ—आगे बढ़ने के दो पैरों से उपमा दी जा सकती है। अन्तःकरण की आस्था एवम् आकांक्षा के अनुरूप यह दोनों ही स्वामिभक्त सेवक सदा कार्य करने के लिए तत्पर रहते हैं। शरीर की अपनी स्वतन्त्र कोई सत्ता या इच्छा नहीं। वह जड़ है। इन्द्रियाँ भी जड़ पञ्चतत्वों से बनी है। अन्तःकरण में जैसी उमंगें उठती हैं, उसी दिशा में शरीर की क्रियाशीलता चल पड़ती है। इसी

प्रकार मन भी अपनी मर्जी से कुछ नहीं करता । उसमें सोचने का गुण तो है, पर क्या सोचना चाहिये ? यह निर्धारण करना अन्तःकरण का काम है । सज्जनों का चिन्तन एवम् कर्तव्य एक तरह का होता है और दुर्जनों का दूसरी तरह का । इसमें दोनों के शरीर और मन सर्वथा निर्दोष होते हैं । अन्तः प्रेरणा का निर्देश बजाते रहना भर उनका काम है । इसलिये शरीर को कुकर्म करने या मन को दुर्बुद्धि-ग्रस्त होने का जो दोष दिया जाता है वह अवास्तविक है । इन दोनों वाहनों को प्रेरणा एवम् दिशा देने का काम अन्तःकरण रूपी सारथी का है ।

शरीर में क्रिया, मन में विचारणा और अन्तरात्मा में भावना काम करती है । भावनाओं को ही श्रद्धा, आस्था, निष्ठा, मान्यता आदि के नाम से जाना जाता है । इन्हीं सबके समन्वय से आकांक्षा उभरती है और फिर उसी की निर्देशित दिशा में शरीर और मन के सेवक काम करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं ।

आत्म-ज्ञान का अर्थ है अन्तरात्मा के गहन स्तर में यह अनुभूति एवम् आस्था उत्पन्न करना रहे कि हम सत्, चित, आनन्द परमात्म सत्ता के अविच्छिन्न अङ्ग हैं हमें पूर्णता प्राप्ति के लिए श्रेष्ठतम जीवन क्रम अपनाना है और जो उपलब्ध है उसे लोकहित के लिए प्रयुक्त करना है । आत्म-ज्ञान की भूमिका में जगा हुआ जीवात्मा सङ्कीर्ण स्वार्थपरता की परिधि को लांघकर सब में अपने को और अपने में सबको देखता है, इसलिए उसके सामने व्यक्तिवादी, आपाधापी फटकने भी नहीं पाती, जो सोचता और करता है उसमें व्यापक लोक-हित की—सदुद्देश्यों को कार्यान्वित करने की—भावना काम करती है । कहना न होगा कि आत्मबोध से सम्भावित आस्थाओं को प्रत्येक विचारणा और प्रत्येक क्रिया-पद्धति में मात्र आदर्शवादिता ही उभरती, छलकती दिखाई पड़ती है । ऐसे लोग अभावग्रस्त और सङ्कटग्रस्त हो

सकते हैं, पर अन्तःकरण में उन्हें असीम आनन्द और सन्तोष की अनुभूति हर घड़ी होती रहती है।

भगवान बुद्ध को जिस दिन आत्म-ज्ञान हुआ, उसी दिन से दिव्य मानव बन गये। जिस वट-वृक्ष के नीचे उन्हें आत्मबोध हुआ था उसकी टहनियाँ काट-काटकर उनके अनुयायी अपने-अपने क्षेत्रों में ले गये और वहाँ उसकी मूर्तिमान देवता के रूप में स्थापना की। इसका तात्पर्य है बुद्ध को सामान्य राजकुमार से भगवान बना देने का श्रेय उस आन्तरिक जागरण को ही दिया गया, जिसे आत्मबोध के रूप में पुकारते हैं। यह उपलब्धि जिसे भी मिल सकेगी वह उसी मार्ग पर चलने वाला और वैसा ही सत्परिणाम प्राप्त करने का अधिकारी माना जायगा।

योग साधना में केवल चिन्तन तक ही सीमित नहीं रहा जा सकता। भाव संस्थान में उभार आये बिना योग अधूरा ही रह जाता है। भाव प्रखरता जितनी तीव्र होगी योग की सफलता भी उतने ही अंशों में बढ़ती चली जायगी। जो साधनायें सहज क्रम में कठिन और श्रम साध्य लगती हैं वही भाव जागरण होते ही आनन्ददायक और स्वाभाविक हो जाती हैं। उसमें अपने प्रियतम प्रभु से मिलन का रस मिल जाता है। मनुष्यों में भी दो प्रेमीजन जब मिलते हैं तो भाव-विभोर हो जाते हैं और आनन्दातिरेक का अनुभव करते हैं। भाव भरी पुलकन केवल विश्वस्त, परमप्रिय एवम् आत्मीयों के मिलन पर ही उभरती है। इसलिए भगवान के प्रति अत्यन्त उच्चस्तरीय मान्यतायें एवम् भावनायें रखकर पुलकन भरे मिलन का—एक दूसरे में आत्मसात् हो जाने की, गहन आस्था की अनुभूति को भक्तियोग कहते हैं। लययोग इसी को कहा गया है। आत्म-समर्पण तादात्म्य भी इसी का नाम है। जीवन मुक्ति का वर्णन करते हुए सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य के चार भेदों में

इसी स्थिति का विवेचन किया गया है। द्वैत को मिटाकर अद्वैत की अनुभूति, नदी का समुद्र में विलय, अग्नि में आहुति इन्धन, दीपक पर पतङ्गों का जलना जैसे उदाहरण देकर इसी भाव स्तर का स्वरूप समझाया जाता है। गोपियों का कृष्ण की मुरली ध्वनि पर थिरकने वाले रास नृत्य में इन्द्रिय समूह एवम् चिन्तन धाराओं का परब्रह्म के उदात्त संकेतों का अनुगमन ही है। 'मैं' और 'तू' में से एक को मिटा देने की बात सूफी सन्त और भक्तयोगी एक स्वर से कहते रहे हैं। मैं मिटता है तो तू रह जाता है। "मेरा मुझ को कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर" की—"अपनी खुदी मिटा दे तेरा खुदा मिलेगा की—अनुभूति भक्तियोग में होती है। इसी तथ्य को थोड़े से शब्दों की उलट-पुलट में दूसरी तरह भी कहा जा सकता है—अयमात्मा ब्रह्म—प्रज्ञानं ब्रह्म तत्त्वमसि सच्चिदानन्दोहम्"—"शिवोहम् की मान्यता में 'तू' मिट जाता है और मैं रह जाता है दोनों ही स्थितियों में एकता, एकरूपता—एक सत्ता का प्रतिपादन है। भक्त और भगवान के एक बन जाने की बात है। अथमात्मा ब्रह्म का आत्मा-निकृष्ट नर-पशु नहीं होता वरन् उसकी किया विचारणा एवम् आकांक्षा ठीक वैसी ही होती है, जैसी परमेश्वर की। इससे नीची स्थिति में 'शिवोहम्' की बात नहीं बनती है। परमात्मा स्तर पर पहुँचा हुआ आत्मा अपनी अहंता को पूरी तरह खो चुका होता है। उसके साथ जुड़े हुए संकीर्ण स्वार्थपरता के सारे बन्धन भी समाप्त हो जाते हैं ऐसा मनुष्य लोभ, मोह के बन्धनों से विरक्त होकर वैरागी जीवन जीता है और उच्चस्तरीय प्रेरणाओं को ईश्वर के संकेत मानकर उनका अनुगमन करता है।

इसके लिए मात्र मस्तिष्क द्वारा सम्भव होने वाले ध्यान चिन्तन से काम नहीं चलता वरन् प्रियतम के साथ एकाकार होने के भावोन्माद को जगाना पड़ता है। मीरा, चैतन्य, रामकृष्ण, परमहंस आदि में यह उन्माद मुखरित हो उठा था। ऋषियों में तत्वदर्शी

मनीषियों में वह सौम्य शान्त रस बनकर रचनात्मक प्रयोजनों में लगा रहता है। आवश्यकता पड़ने पर वह बुद्ध और गाँधी की तरह सामयिक समस्याओं के समाधान में अवतारी महामानवों की भूमिका भी सम्पन्न करता है।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए भक्ति का भावोन्माद उभारने वाले साधक भी देखे गये हैं दूसरे अत्यन्त शान्ति पूर्वक हिमालयमें अपनी काया को गला कर हिम रूप बना देने जैसी अनुभूतियों से भी काम चला लेते हैं। तात्पर्य द्वैत को मिटा देने से है। आत्मा और परमात्मा की एकता की भावना जिस भी भाव- प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न की जाय, वे सभी भक्तियोग के—लययोग के अन्तर्गत गिनी जायेंगी।

तपश्चर्या का तत्व ज्ञान

ब्रह्म विद्या के–अध्यात्म विज्ञान के दो भाग हैं–एक आस्था पक्ष दूसरा क्रिया पक्ष। आस्था पक्ष में चिन्तन क्षेत्र को प्रभावित करने वाले समस्त ज्ञान विस्तार को सम्मिलित किया गया है। वेद शास्त्र, उपनिषद, दर्शन, नीतिशास्त्र आदि इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए रचे गये हैं। पाठ, स्वाध्याय, सत्सङ्ग, चिन्तन, मनन का–कथा प्रवचनों का–माहात्म्य इसी आधार पर बताया गया है कि उस प्रक्रिया के सहारे मानवी चिन्तन का परिष्कार होता रहे। अवांछनीय पशु-प्रवृत्तियों के कुसंस्कार छुड़ाने में, यह ज्ञानसाधना साबुन का काम करती है। विकृत मनोवृत्तियों से छुटकारा मिलता है और विवेक युक्त दूर दर्शिता का पथ –प्रशस्त होता है। प्रज्ञा, भूमा, ऋतम्भरा इसी परिष्कृत चिन्तन का नाम है। 'ज्ञानमुक्ति' 'नहिं ज्ञानेन सदृश पवित्र मिह विद्यते' जैसी उक्तियों में सद्ज्ञान को अध्यात्म का प्राण माना गया है। वेदान्त दर्शन को तो विशुद्ध रूप से ज्ञान साधना ही कहा जा सकता है। इसी सद्ज्ञान संवर्धन की बहुमुखी प्रक्रिया को अध्यात्म विज्ञान में "योग" नाम दिया गया है।

अध्यात्म विज्ञान का दूसरा पक्ष क्रिया परक है–इसे 'तप' कहते हैं। आत्म निर्माण इसका एक चरण है और लोक कल्याण दूसरा। इन दोनों के लिए जो भी प्रयत्न करने पड़ते हैं, उनमें अभ्यस्त पशु–प्रवृत्तियों को चोट पहुँचती है। स्वार्थ साधनों में कमी आती है–और परमार्थ प्रयोजनों की सेवा साधना करते हुए कई तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। स्वार्थ सुविधा में कटौती करके ही परमार्थ की दिशा में कुछ किया जा सकता है। प्रत्यक्षतः यह सांसारिक दृष्टि से घाटे का सौदा है और अभ्यस्त प्रवृत्ति से विपरीत पड़ने के कारण कष्टमय, भी अनुभव होता है, इन कठिनाइयों को पार करने के लिए शरीर की तितीक्षा का, मन की सादगी का तथा इस मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का, सामना करने योग्य आन्तरिक साहसिकता

का सहारा लेना पड़ता है। अपने आपे को इसी ढाँचे में ढालने के लिये, जितने भी प्रयास किये जाते हैं, वे सब 'तप' की श्रेणी में गिने जाते हैं। यदि आस्थाओं का स्तर बदला जा सके और मात्र विभिन्न शारीरिक क्रियायें करते रहा जाय, तो इतने भर का प्रभाव शरीर तक ही सीमित रह जायेगा। चेतना का वह परिष्कार न हो सकेगा जो तपश्चर्या का मूलभूत उद्देश्य है।

आत्मिक प्रगति की दिशा में बढ़ने के लिये योग और तप के दोनों कदम बढ़ाते हुए, लेफ्ट राइट की परेड करते हुए, गतिशील होना पड़ता है। ज्ञान और विज्ञान की दोनों धाराएँ, गंगा यमुना की तरह जब मिलती हैं, तब प्रभु प्राप्ति का संगम—सुअवसर हाथ में आता है। भिन्न-भिन्न परम्पराओं में अपनी ज्ञान साधना और कर्मकाण्ड प्रक्रिया को कई तरह से निर्धारित किया है, पर सभी का मूल प्रयोजन समान है। मानवी सत्ता भी चेतन आत्मा और जड़ शरीर के समन्वय से बनी है। उन दोनों को ही परिष्कृत करना पड़ता है। भाव शुद्धि की तरह क्रिया शुद्धि भी आवश्यक है। भाव शुद्धि को योग तथा क्रिया शुद्धि को तप कहा जाता है।

मन, चेतन-आत्मा और जड़-शरीर का मध्यवर्ती है। इसे दोनों की सम्मिलित सत्ता कहा जाता है इसे चेतन होते हुए भी ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है। इससे स्पष्ट है कि वह चेतन होते हुए भी जड़ की ओर आकर्षित बना रहता है। दोनों क्षेत्रों से सम्बन्धित होने के कारण मन को ही चेतना और काया के परिष्कार की भूमिका निभानी पड़ती है, आखिर गिराने का कारण भी तो यही है।

मन की दो विशेषताएं सर्व विदित हैं—(१) चञ्चलता (२) सुख लिप्सा। उसे आवारा लड़कों की तरह मटरगश्ती में मजा आता है। बन्दरों की तरह डाली-डाली पर उचकते रहने और चिड़ियों की तरह

जहाँ-तहाँ फुदकते रहने में उसकी चंचलता को समाधान मिलता है। कल्पना के घोड़े पर सवार होकर वह आकाश-पाताल की सैर करता है। इस भटकाव में उसकी अधिकांश शक्ति नष्ट हो जाती है। इसे रोककर उपयोगी लक्ष्य पर उसे केन्द्रित करने का प्रयास योगाभ्यास कहलाता है। योग के फलस्वरूप भौतिक जीवन में दरिद्रता का समृद्धि में लय हो जाता है। पिछड़ापन प्रगतिशीलता में परिणत हुआ दीखता है। विभिन्न प्रकार की सांसारिक सफलताएँ मन को लक्ष्य विशेष पर केन्द्रित करने का ही सत्परिणाम है। उसी से प्रबल पुरुषार्थ बन पड़ता है। अभीष्ट साधन जुटते जाते हैं और अनुकूल परिस्थितियाँ बनती जाती हैं।

आत्मिक क्षेत्र में मन को लगा देने से प्रसुप्त शक्ति संस्थानों के जागरण का वातावरण बनता है और दिव्य क्षमताएँ प्रकाश में आती हैं। यह आन्तरिक प्रगति सामान्य व्यक्ति को महामानव स्तर पर ले जाकर खड़ा कर देती है। यह सब मन के भटकाव को रोकने और उसे लक्ष्य केन्द्र पर नियोजित कर सकने का ही प्रतिफल है। चञ्चलता की वृत्ति से छुटकारा पाकर एकाग्रता के लिए—एक धारा में बहने के लिए सधाया हुआ मन कितने चमत्कारी परिणाम उत्पन्न करता है इसे अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। प्रगति का समूचा इतिहास तो इस तथ्य का साक्षी है ही।

मन की दूसरी प्रवृत्ति है—सुखोपभोग की लिप्सा। भौतिक सुख शरीर द्वारा वासना तृप्ति के रूप में भोगा जाता है। इन्द्रियाँ इसकी माध्यम हैं। शिश्नोदर परायणता में रुचि बनी रहती है। स्वाद और विषय सुख की कल्पनाएँ करने और साधन जुटाने के ताने-बाने बुनने में उसकी अधिकांश शक्ति लगी रहती है। मधुर देखने, सुनने, सूँघने छूने आदि की इन्द्रिय लिप्साएँ भी इसी विलास क्षेत्र में आती हैं। अहङ्कार की पूर्ति के लिए दूसरों को प्रभावित करने वाले कई

तरह के ठाट-बाट बनाये जाते हैं। संग्रह और स्वामित्व के लिए भी अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पड़ते हैं। 'तृष्णा' शब्द में इन सबका समावेश है। अहंता पर चोट पहुँचने से प्रतिशोध की उत्तेजना उत्पन्न होती है। यह क्रोध है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर यह छै आन्तरिक शत्रु माने गये हैं। संक्षेप में यह सारा विकार परिवार भौतिक सुख प्राप्त करने की मन: लिप्सा की अनेकों रङ्ग रूपों में दीखने वाली प्रतिक्रियाएँ मात्र हैं।

मन की इस पतनोन्मुख बहिर्मुखी—लिप्सा परायण प्रवृत्ति से जीवात्मा को असीम हानि उठानी पड़ती है। जीवन सम्पदा उन्हीं उलझनों में नष्ट-भ्रष्ट होती चली जाती है और इस सुदुर्लभ अवसर का समुचित लाभ उठाने से वञ्चित रहना पड़ता है।

मन की इस प्रवृत्ति को उभार देने के लिए किये गये प्रयास 'तप' कहलाते हैं। सुखानुभूति तो आत्मा की आकांक्षा भी है, पर वह मन के स्तर से बहुत ऊँची, बहुत भिन्न है। मन की तृप्ति वासना, तृष्णा और अहंता की पूर्ति में होती है। इसमें उपभोग लक्ष्य है। आत्मा उच्चस्तरीय आदर्शों के पालन में जो आनन्द पाता है, उसे सन्तोष या शान्ति कहते हैं। संक्षेप में मन को भौतिक सुख की आकांक्षा रहती है और आत्मा को आत्मिक सन्तोष एवम् शान्ति की। सुख मन का विषय है और सन्तोष आत्मा का। रस्साकशी में एक को हारना दूसरे को जीतना पड़ता है। मन जीतता है तो आत्मा को असहाय बनकर अतृप्त स्थिति में पड़ा रहना होता है। आत्मा जीतता है तो मन को कुचलना पड़ता है। आरम्भ में उच्छृंखल मन को संयत बनाने में काफी संघर्ष करना पड़ता है। पीछे तो उनमें समझौता हो जाता है। वन्य पशु जब पालतू बन जाते हैं तो मालिक से झगड़ने की अपेक्षा उसी के साथ फिरने लगते हैं। यही स्थिति मन की होती है। साधना द्वारा मन को इसी तरह सधाया जाता है, जिस प्रकार सरकस वाले सिंह जैसे आक्रमण-

कारी जन्तु को स्वामिभक्त, आज्ञाकारी एवम् उत्पादक बनाने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं। सरकस के पशु शिक्षक उन जन्तुओं की अनगढ़ आदतों को छुड़ाने और नये प्रकार के अभ्यास डालने में भारी माथापच्ची करते हैं। उन्हें मार और प्यार की दुहरी भूमिका निभानी पड़ती है। तप साधना और कुछ नहीं। मन की चञ्चलता और सुख लिप्सा वाली अनगढ़ आदतों को छुड़ाने और उसे उपयोगी प्रवृत्तियों में संलग्न होने का अभ्यस्त बनाने के लिए ऐसे काम करने पड़ते हैं जिन्हें मोटेतौर से क्रूरकर्म की संज्ञा भी दी जा सकती है। तप का बाह्य स्वरूप कुछ ऐसा ही निष्ठुरतापूर्ण है, यद्यपि आत्मोत्कर्षण का उसके पीछे दूर गामी दुलार ही दुलार झलकता देखा जा सकता है।

सुख को गौण और सन्तोष को प्रधान मानकर चलना—मन को गौण और आत्मा को प्रधान मानना यही वह परिवर्तन है जिसके आधार पर किसी को तपस्वी कहा जा सकता है। तप में तितीक्षा का—शारीरिक, मानसिक एवम् आर्थिक असुविधाओं का अभ्यास इस लिए करना पड़ता है कि मन की अनगढ़ कुसंस्कारिता को—चञ्चलता और लिप्सा को छुड़ाया जा सके। उसे पतनोन्मुखी बहिरङ्ग ललको से विरत करके उच्चस्तरीय आध्यात्मिक आदर्शवादिता अपनाने के लिए सहमत करना ही तप साधना का एकमात्र उद्देश्य है। इसमें जो कड़ाई बरतनी पड़ती है उसे सुधार प्रयोजन के लिए कुछ क्षण के लिए बरती गई विवशता भर समझा जाना चाहिए। उसे प्रसव पीड़ा की उपमा दी जा सकती है। ऐसे तो सत्परिणाम प्राप्त करने के लिए किसान, विद्यार्थी, पहलवान, श्रमिक, व्यवसायी, कलाकार आदि को बाल चञ्चलता से विरत होने के लिए मन मारना पड़ता है और अपने रूखे नीरस प्रयोजनों में तन्मय होना पड़ता है। मोटेतौर से इस साधना को अपने साथ बरती गई कठोरता ही कह सकते हैं। दूसरे मौज-मौज में निरत साथी इसे मूर्खता भी कह सकते हैं, पर

वस्तुतः यह आरम्भ में बीज की तरह गलने के लिए और पीछे विशाल वृक्ष के रूप में विकसित करने वाली दूरगामी बुद्धिमत्ता ही है।

तपस्वी को आरम्भ में कष्ट सहना पड़ता है। उसकी शारीरिक सुख सुविधाओं में कटौती होती है, मानसिक हास-परिहास का अवसर भी छिनता है, औचित्य को रखकर उपार्जन और उदार उपयोग का ध्यान रखने से समृद्धि भी बढ़ नहीं पाती। इन तीनों क्षेत्रों में कमी पड़ने को मोटेतौर से मूर्खता कह सकते हैं, पर चूंकि उसके पीछे जो उज्ज्वल सम्भावनाएँ विद्यमान हैं, उन्हें थोड़ी लागत में तगड़ा मुनाफा कमाने जैसी बुद्धिमत्ता ही कहा जा सकता है।

तपाने से वस्तुएँ गरम होती हैं और उनका संशोधन होता है, दृढ़ता आती है तथा स्तर बढ़ता है। वस्तुओं की तरह ही व्यक्ति भी तप-साधना से परिष्कृत होता और सुदृढ़ बनता है।

कच्ची मिट्टी से बनी ईंटों द्वारा विनिर्मित मकान वर्षा में गलने लगता है, पर यदि इन्हीं ईंटों को आग में पका लिया जाय तो उनसे बनी इमारतें मुद्दतों चलती हैं। चूना और सीमेंट क्या है? कंकड़ पत्थरों का पका हुआ चूरा। यदि इन्हें कच्चा पीसकर इमारत में लगाया जाय तो काम नहीं चलेगा। पकाये जाने पर उनमें ईंटों को पकड़ लेने और भवन को चिरस्थायी बना देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। धातुएँ खदान में से मिट्टी मिली—कच्ची अवस्था में निकलती हैं। उन्हें भट्टी में तपाया जाता है तब लोहा, तांबा आदि शुद्ध बनते और काम में आते हैं। लोहे को अधिक मजबूत बनाने के लिए उसे अधिक तपाया जाता है। काटने वाले शस्त्र तथा औजारों की 'धार' अधिक गर्मी देकर ही सुस्थिर बनाई जाती है।

आयुर्वेद के रसायनवेत्ता कई प्रकार की गुणकारी भस्में बनाते हैं।

अभ्रक, भस्म वज्र- भस्म, प्रवाल भस्म, लौह भस्म आदि के गुण विख्यात हैं। यह उन साधारण सी वस्तुओं को तपाने, गरमाने का ही प्रतिफल है। पानी गरम करने से भाप बनती है और उससे रेलगाड़ी का इन्जन जैसी भारी वस्तुएँ धकेली जाती हैं। बल्ब का जरा-सा 'फिलामेंट' जब गरम होता है तो रोशनी देता है। दीपक के बारे में भी यही बात है, गर्मी ही प्रकाश के रूप में परिवर्तित होती है, उसी को शक्ति के रूप में परिणत किया जाता है। व्यक्तित्व की सत्ता को तपाने से भी उसमें सर्वतोमुखी प्रखरता उत्पन्न होती है। प्राचीन काल में विद्यार्थियों को गुरुकुलों के कठोर वातावरण में रहकर पढ़ने के लिए भेजा जाता था कि वे कष्टसाध्य जीवनयापन करते हुये अपने शरीर को सुदृढ़ और मन को सहनशील बनाने की साधना में उत्तीर्ण होकर प्रखर प्रतिभा विकसित कर सकें।

कच्चे फलों को भूसे या अनाज की गर्मी में बन्द रख कर पकाया जाता है। आम प्रायः इसी प्रकार पाल में पकता है और अपना खट्टापन हटाकर मीठा बनता है। दूध को गरम करने पर ही सुपाच्य होता है। सामान्य पानी को औषधि उपयोगी 'डिस्टिल्ड वाटर' बनाने के लिए उसे भट्टी पर चढ़ाया जाता और भाप बनाकर उड़ाया जाता है। तप साधना द्वारा कष्टसाध्य परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं और उन्हें सहन करने की तितिक्षा का सहारा लेकर अपने को परिष्कृत करना पड़ता है, सोने को आग में तपाकर ही विविध प्रकार के आभूषण बनते हैं। अन्य धातुओं से भी उपकरण तभी बनते हैं जब उन्हें आग में डालकर कोमल बनाया जाय। मनुष्य की जड़ता एवम् कठोरता को सुकोमलता में बदलने और अभीष्ट ढाँचे में ढालने के लिये तपश्चर्या की रीति-नीति अपनाना आवश्यक होता है। आरामतलबी और सुख-सुविधा से भरे वातावरण में पलने वाले लोग अविकसित स्थिति में पड़े रहते हैं उनकी विविध क्षमताएँ विकसित

होने की बात बनती ही नहीं। उस्तरे पर धार रखने से ही उसमें पैनापन बढ़ता है और चमक दीखती है। उसे ऐसे ही एक कोने में पड़ा रहने दिया जाय तो धीरे-धीरे जंग चढ़ती जायगी और वह गल कर अपनी मौत मर जायगा। सुविधा के अभिलाषी लोग अपना पुरुषार्थ खोते चले जाते हैं। तीक्ष्णता की वृद्धि और रक्षा के लिए रगड़ आवश्यक है। फौज के सैनिकों को यदि नित्य 'परेड' करने और दौड़ लगाने का अवसर न मिले तो वे थोड़े ही दिनों में तोंद वाले सेठ बन जायेंगे तब उनके लिये लड़ सकना तो दूर अपनी काया का बोझ ढोना भी कठिन पड़ेगा।

इतिहास, पुराणों में ऐसे असंख्य आख्यान मौजूद हैं जिनसे प्रतीत होता है कि विशिष्ट शक्ति सम्पन्न लोगों को विभूतियाँ उपार्जन में तप-साधना का ही आश्रय लेना पड़ा था। भगीरथ द्वारा तप करके गङ्गा को धरती पर लाया जाना, पार्वती का शिव से विवाह सम्पन्न होना, ध्रुव का तप करके ब्रह्माण्ड का केन्द्र बनना, दधीचि की अस्थियों से वज्र बनना और उससे असुरों का मारा जाना, अगस्त्य का समुद्र शोषण, विश्वामित्र का नई सृष्टि का निर्माण, सात सामान्य मनुष्यों का सप्तऋषि बनना—जैसी अगणित कथाएँ तप की शक्ति का परिचय प्रस्तुत करती हैं।

भगवान कृष्ण को सुसंतति प्राप्त करने के लिये रुक्मणी सहित लम्बी अवधि तक मात्र जङ्गली बेर खाकर उस स्थान पर तप करना पड़ा था, जहाँ आजकल बद्रीनाथ धाम है। दलीप ने रानी सहित वशिष्ठ की गाएँ चराने का दीर्घकालीन तप करके सुसंतति प्राप्त की थी। स्वायंभू मनु और शतरूपा रानी के तप ने उन्हें राम जैसा पुत्र दिया था कश्यप तथा अदिति के तप ने कृष्ण को गोदी में खिलाने का वरदान दिलाया था। इन प्रसङ्गों में यह प्रतिपादन है कि तप द्वारा मनुष्य भगवान का भी पिता बन सकता है। आत्म-साधना में

तपश्चर्या को प्रमुखता दी गई है। तप के कारण उमकी गर्मी से प्रसुप्त शक्तियों के जागरण की परिस्थितियाँ बनती हैं। इसी लिए आत्मिक प्रगति की साधना में कई प्रकार के कठोर नियम पालन करने पड़ते हैं। व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य जैसी तितीक्षाओं से शरीर को इस योग्य बनाया जाता है कि वह कठिनाइयाँ सहने का अभ्यस्त तथा तज्जनित गर्मी से सुदृढ़ होने का अवसर प्राप्त कर सके।

उपवास के लाभ सर्वविदित हैं। पेट को विश्राम देने से उसमें जमा अपच दूर होता है और थकान दूर होने से पाचन क्रिया में तीव्रता आती है। प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में रोग निवृत्ति का प्रधान उपाय उपवास को माना गया है। उदर शोधन के अतिरिक्त उपवास का विशेष लाभ यह है कि उससे मनोविकारों का शमन होने लगता है। जो शक्ति पाचन में लगती है वह यदि बच सके तो उसका उपयोग मन के अपच को— विचार विकृति को दूर करने में लग सकता है। भारतीय धर्म में पुण्य पर्वों एवं शुभ अवसरों पर उपवास को बहुत महत्व दिया गया है। विवाह के दिन वर-वधू के उपवास करने की प्रथा है। दैनिक उपासना पूरी न हो जाने तक कुछ न खाने-पीने का नियम कई लोग पालते हैं— यह उपवास का ही छोटा रूप है। उपवास को तप माना गया है।

अन्न का मन से घना सम्बन्ध है। दैनिक जीवन में सतोगुणी आहार ही अपनाने की बात ध्यान में रखी जाय तो उसका प्रतिफल विचार शुद्धि के रूप में भी परिलक्षित होगा। नीति उपार्जित परिश्रम की कमाई ही खाई जाय। पकाने वाले तथा परोसने वाले व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से पवित्र हों। खाते समय भगवान को मन ही मन भोग लगाने और उसे प्रसाद समझ कर औषधि रूप में ग्रहण करने की भावना रखी जाय। चटोरेपन की विलासिता से बच कर केवल आहार की सात्विकता भर से संतुष्ट रहा जाय। अन्न की देवता मान-

कर उसका सम्मान किया जाय और जूठन के रूप में उसकी अनावश्यक बर्बादी न की जाय। यह बातें सामान्य लगती हैं, पर आत्मिक प्रगति की दृष्टि से उनका बहुत महत्व है। "जैसा खाये अन्न—वैसा बने मन" वाली उक्ति बहुत ही सारगर्भित है। मन को सात्विक बनाना आत्मोत्कर्ष की दृष्टि से नितांत आवश्यक है। उसके लिए आहार शुद्धि को प्रथम चरण कहा जा सकता है। मांसाहार—नशेबाजी—अशुद्ध व्यक्ति और वातावरण में पकाया और परोसा गया, मिर्च मसालों से भरा गरिष्ठ और उत्तेजक आहार मनः क्षेत्र में तमोगुण उत्पन्न करता है और उसका प्रभाव चित्त की अस्थिरता बनकर उपासना क्रम में भारी विघ्न उत्पन्न करता है।

पिप्पलाद ऋषि पीपल वृक्ष के फल खा कर निर्वाह करते थे। कणाद ऋषि शिलोञ्छ वृत्ति से जङ्गली धान्य खाकर गुजारा करते थे। यह अन्न शुद्धि की प्रक्रिया है। हमें स्वयं लम्बी अवधि तक मात्र जौ की रोटी और छाछ इन दो ही वस्तुओं पर रह कर पुरश्चरण क्रम चलाना पड़ा है। अभक्ष्य खाने से मन की विकृति का होना स्पष्ट है। शरशैया पर पड़े भीष्म पितामह जब धर्मोपदेश दे रहे थे तब द्रौपदी ने पूछा—देव! जब मुझे भरी सभा में निर्वसन किया जा रहा था, तो आपने यही धर्मोपदेश कौरवों को क्यों नहीं दिये? उत्तर में भीष्म ने इतना ही कहा—उन दिनों मैं कुधान्य खा रहा था, अस्तु धर्मज्ञान रहते हुए भी उसे चरितार्थ करने का साहस सम्भव न हो सका।

आहार शुद्धि के लिए हम अपने खाद्य पदार्थों में सात्विक वस्तुएँ ही स्वीकार करें। दो बार से अधिक भोजन न करने का नियम बनालें। दूध, छाछ, रस, क्वाथ जैसे पेय पदार्थों के अतिरिक्त बीच-बीच में अन्य चीजें न लें। भूख से कम खायें। जल्दी न निगलें, चबा कर खायें। सप्ताह में एक दिन अथवा एक जून निराहार रहें अथवा फल शाक दूध

आदि पर निर्वाह करें। साप्ताहिक उपवास की परम्परा चल पड़े तो देश की जटिल खाद्य समस्या का सहज समाधान निकल सकता है। साथ ही अपच का हल निकल आने से स्वास्थ्य संकट भी बहुत हद तक हल हो सकता है।

सप्ताह में एक दिन अस्वाद व्रत का पालन भी एक प्रकार का उपवास ही माना जा सकता है। नमक, मसाले, शक्कर जैसी वस्तुएँ मात्र स्वाद के लिए खाई जाती हैं। उपयोगी स्तर का—उपयुक्त मात्रा में नमक शक्कर आदि तो अन्न, शाक, फल, दूध आदि में सहज ही मिल जाता है। ऊपर से इन चीजों का लिया जाना स्वास्थ्य के लिए नहीं वरन् स्वाद के लिए ही प्रयुक्त होता है। स्वाद के लोभ में आहार की अधिक मात्रा उदरस्थ होती है और अपच उत्पन्न करके तरह-तरह के रोगों को जन्म देती है। स्वाद पर काबू पाना भी एक प्रकार का तप है। बिना नमक, शक्कर, मसाले आदि का भोजन सप्ताह में एक दिन भी किया जाता रहे तो इससे स्वादेन्द्रिय पर नियन्त्रण करने की तपश्चर्या चल पड़ेगी। गान्धी जी ने अपनी 'सप्त महाव्रत' पुस्तिका में 'अस्वाद' को प्रथम व्रत माना है और उसके फलस्वरूप ब्रह्मचर्य पालन तथा मनोनिग्रह में सफलता मिलने का प्रतिपादन किया है।

मनोनिग्रह तपश्चर्या में दूसरा व्रत ब्रह्मचर्य पालन है। स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से रतिक्रिया के अवसर न्यूनतम ही आने देने चाहिए। बहुमूल्य जीवन रस को फुलझड़ी की तरह जलाने का अत्यन्त मँहगा खिलवाड़ करने से बचना चाहिए। इससे अपनी और सहयोगी की हानि ही हानि है। क्षणिक विनोद की तुच्छता और शक्ति सञ्चय की महत्ता को समझते हुए इस दिशा में अधिकाधिक संयम बरता जाना ही दूरदर्शिता है। इस बचत का लाभ शारीरिक और मानसिक सुदृढ़ता के रूप में सामने आता है और आत्मिक प्रगति की दिशा में उस संचय से

भारी सहायता मिलती है।

शारीरिक ब्रह्मचर्य से भी अधिक महत्व मानसिक कामुकता से बचने का है। शरीर क्षरण तो यदा-कदा ही होता है, पर कुदृष्टि एवं काम चिन्तन के फलस्वरूप मानसिक विकृति घड़ी-घड़ी उत्पन्न होती रहती है। काम सेवन से जिस प्रकार शारीरिक शक्ति घटती है उसी प्रकार काम चिन्तन से मनोबल एवं आत्मबल घटता है इससे आत्म-शक्ति में कमी पड़ती जाती है। ऐसी दुर्बल मनःस्थिति में वे आधार नहीं बन पाते जिनसे आत्मोत्कर्ष की दिशा में आशाजनक प्रगति सम्भव होती है। पुरुषों को नारियों के प्रति और नारियों को पुरुषों के प्रति पवित्र दृष्टि रखनी चाहिए। कामुक चिन्तन भी मानसिक व्यभिचार माना गया है और उससे होने वाली हानि को आत्मिक प्रगति के मार्ग में भारी व्यवधान माना गया है। मन को कामुक चिन्तन से बचाने के लिए उसके प्रति-पक्षी पवित्र भावों को अधिक समय तक मन में स्थान देना चाहिए। जितनी देर अशुद्ध चिन्तन के लिए मस्तिष्क को छूट दी जाती है, उतनी ही सुविधा यदि परिष्कृत चिन्तन के लिए दी जा सके तो उस परिष्कृत मनोभूमि में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, चिन्ता, निराशा, भय आदि का कोई कुविचार, मनोविकार पनप न सकेगा। सृजनात्मक शुभ चिन्तन के विचारों से मन को भरा पूरा रखने के लिए स्वाध्याय, सत्सङ्ग, मनन, चिन्तन का आश्रय लेकर मनोभूमि ऐसी प्रौढ़, परिपक्व बनाई जा सकती है जिसमें कुविचारों को पैर जमाने के लिए तनिक भी गुंजाइश न रहे।

हनुमान, भीष्म, शङ्कराचार्य, समर्थ, विवेकानन्द आदि ब्रह्मचारियों के उज्ज्वल चरित्रों पर बार-बार विचार किया जाना चाहिए। शिवाजी ने एक यवनिका सुन्दरी को उपभोग के लिए प्रस्तुत किये जाने पर इतना ही कहा था—"ऐसी सुन्दर मेरी माता होती तो मैं भी इतना सुन्दर

होता"। अप्सरा उर्वशी ने अर्जुन से उसी जैसा पुत्र पाने के उद्देश्य से काम प्रस्ताव किया तो अर्जुन ने उत्तर दिया—"आप कुन्ती की तरह मेरी माता और मैं आपका सगे पुत्र की तरह बालक हूँ। इसी प्रकार तत्काल आपकी पुत्र प्राप्ति की मनोकामना पूर्ण हो जाती है।" ऐसी ही पवित्र दृष्टि रखने से आत्मबल सञ्चित होता है। इस मनोनिग्रह को तप की ही संज्ञा दी गई है। स्वादेन्द्रिय और कामेन्द्रिय की स्थूल और सूक्ष्म लिप्सा पर काबू पाया जा सके तो समझना चाहिए कि इन्द्रिय निग्रह का उद्देश्य पूरा हो गया। आँख, नाक, कान आदि की चित्त को चंचल बनाने में तनिक सी भूमिका रहती है। प्रधान तो यही दो स्वादेन्द्रियाँ हैं इनका उपभोग और विलास रोकने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, उन सभी को तपश्चर्या का अङ्ग माना गया है।

भूलों के लिये शारीरिक- मानसिक दण्ड प्रताड़ना को प्रायश्चित्त कहते हैं। यह भी तप वर्ग में ही आती है। दैनिक भूलों को समझना और भविष्य में ऐसा न होने देने की सतर्कता तीव्र करना—यदि नैतिक गलतियाँ हुई हैं तो उनके लिए भोजन में आंशिक कटौती, अमुक समय का मौन, नींद में कटौती, अतिरिक्त श्रम, उठक- बैठक जैसी प्रताड़ना, दण्ड व्यवस्था स्वयं की जा सकती है। पिछले जीवन में कोई बड़े अपराध बने हों, तो उनके लिए चन्द्रायण व्रत, दाढ़ी बढ़ाना, अमुक समय तक नंगे पैर रहना, पैदल तीर्थ यात्रा, धन दान जैसी किन्हीं विशेष प्रायश्चित्तों की व्यवस्था किसी उपयुक्त नीतिवेत्ता के परामर्श से करनी चाहिए इससे मन पर चढ़े हुए पाप भार से निवृत्ति मिलती है।

स्थूल शरीर को तपाने वाली उपरोक्त कुछ कष्ट साध्य तपन्तितीक्षाओं का उल्लेख किया गया है। सूक्ष्म शरीर मन को तपाने के लिए तृष्णा और वासना का लोभ और मोह का परित्याग करना पड़ता है।

वैराग्य इसी का नाम है। सादा जीवन उच्च विचार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूक्ष्म शरीर में उत्कृष्टता बनी रहे इसके लिए सादगी का नम्रता एवं मितव्ययिता का अपनाया जाना आवश्यक है। खर्चीली तड़क-भड़क और उद्धत ठाट बाट से बचा जाय और भोजन, वस्त्र निवास आदि जीवन चर्या के प्रत्येक क्षेत्र में औसत नागरिक जैसी सादगी बरती जाय। खर्च उतना ही किया जाय जितना निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक हो। आवश्यकताएँ और भौतिक महत्वाकांक्षाएँ घटाई जायँ ताकि उनमें लगने वाला समय श्रम और मनोयोग परमार्थ प्रयोजनों में लगाने के लिए बचाया जा सके।

(१) संयम और सादगी की नीति अपना कर शक्तियों के संचय एवं अभिवर्धन के लिए प्रयत्नशील रहने में अपने साथ कठोरता बरतना (२) लोक मङ्गल के पुण्य प्रयोजनों में अपनी सामर्थ्य का बड़ा भाग लगाने के कारण स्वयं को कठिनाई में रहने की स्थिति का अभ्यास (३) स्वार्थरत लोगों जितना भौतिक लाभ उपार्जन करने में न्यूनता रह जाने पर भी सन्तोष (४) अनीति से संघर्ष करने में आसुरी तत्वों के आक्रमण से आघात। यह सब कारण ऐसे हैं जिनमें उच्चस्तरीय महा मानवोचित जीवन जीने वालों को आये दिन बरतना पड़ता है। विलासी और महत्वाकांक्षी रीति-नीति अपनाने वालों का न्यायोचित उपार्जन अपनी बढ़ी-चढ़ी आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं कर पाता फिर वे मानवता के महान् कर्तव्यों का पालन करने के लिए समय और साधन कहाँ से पावें? यह प्रयोजन अपने साथ मितव्ययिता, कष्ट सहिष्णुता, मनोनिग्रह जैसी सख्ती बरते बिना और किसी प्रकार पूरा नहीं हो सकता।

अनीति पर उतारू लोगों को सिद्धान्तवादी सहन नहीं हो सकते वे देखते हैं कि प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से वे उनके स्वेच्छाचार में बाधक हैं। नीति का समर्थन और अनीति का विरोध करना भी उनके स्वार्थों

पर चोट पहुँचाता है। वे सोचते हैं, यह रोड़ा रास्ते से हटाकर निष्कंटक होना चाहिए। ऐसी दशा में अनीति पोषकों के आक्रमण का शिकार होना पड़ता है। फिर कई बार ऐसी विवशता आ जाती है कि अवांछनीयताओं को चुपचाप सहने के लिए अपना अन्तरात्मा तैयार नहीं होता और अन्याय से जूझने में बड़ी से बड़ी हानि उठाने के लिए भी अपना शौर्य-साहस तन कर खड़ा हो जाता है। प्रसिद्ध है कि आक्रमता लोग संगठित हमला करते हैं, पर बचाव पक्ष के लोग अपनी भीरुता अथवा तथाकथित शान्ति प्रियता के कारण मुँह छिपाये बैठे रहते हैं। मार गुण्डों का मुकाबिला करने में शालीन सामान्य लोग हलके पड़ते हैं। ऐसी दशा में अन्याय विरोधी अकेला पड़ जाता है और उसे अपनी विरोधात्मक साहसिकता के कारण कई प्रकार के आघात सहने पड़ते हैं। इतिहास के पृष्ठों पर सन्तों, सुधारकों और शहीदों को दुष्टों द्वारा तरह-तरह से सताये जाने के अगणित घटनाक्रम मिलते हैं। इनका दोष इतना ही था कि उनने अवांछनीयताओं के साथ असहयोग, विरोध प्रकट किया था और उनका उन्मूलन करने का प्रयास कर रहे थे। विरोध न करने से अनीति को प्रोत्साहन मिलता है और वह सौ गुने उत्साह से विनाश पर उतारू होती है ऐसी दशा में प्रतिरोध अनिवार्य हो जाता है। तब जो इतना साहस दिखायें वे चोट सहने को भी तैयार रहें। इसी की पूर्व तैयारी के लिए भी कष्ट सहिष्णुता का पूर्वाभ्यास करना पड़ता है।

सुविधा भरा जीवन आलसी बनाता है और प्रतिभा को प्रसुप्त स्थिति में धकेल देता है। संघर्षमय, कठिनाई भरे जीवन में अन्य असुविधाएँ कितनी ही क्यों न हों, इतना लाभ स्पष्ट है कि उससे मनुष्य की प्रखरता निखरती है। अमीरी के वातावरण में से कदाचित ही कभी कोई प्रतिभाएँ उभरती हैं। संसार भर के महामानवों के

इतिहास में यह तथ्य स्पष्ट है कि वे या तो कठिनाइयों की परिस्थिति में जन्मे थे अथवा उनने जान-बूझकर कठिनाइयों से भरा जीवन-क्रम अपनाया था। पत्थर पर रगड़ने से ही चाकू की धार तेज होती है। मानवी प्रतिभा के तीक्ष्ण होने में भी यही तथ्य काम करता है।

गायत्री पुरश्चरणों के समय आमतौर से साधकों को भोजन संयम, अस्वाद, व्रत-उपवास, ब्रह्मचर्य पालन, अपने शरीर की सेवा—कपड़े धोना, हजामत बनाना आदि कार्य स्वयं करना कोमल शैया त्याग कर भूमि या तखत पर सोना, मारे हुए पशुओं का चमड़ा प्रयोग में न लाकर करुणा का परिचय देना, कुछ समय मौन रहना जैसी तितीक्षाएँ बरतने के लिए कहा जाता है। इस निर्देश के पीछे तथ्य इतना ही है कि कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास करते हुए हर घड़ी यह विचार करते रहा जाय कि आदर्श जीवन जीने वाले के लिए स्वेच्छापूर्वक असुविधाएँ सहन करने में उत्साह एवं सन्तोष करने का स्वभाव परिपक्व करना आवश्यक है। अभ्यास रहने से, वैसा चिन्तन चलते रहने से अवसर आने पर वे अड़चनें अप्रत्याशित नहीं लगतीं और सोचा जाता है यह तो होना ही था, इसकी तैयारी तो पूर्वाभ्यास के रूप में देर से की जाती रही है।

तप तितीक्षा में शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक कठिनाई को स्वेच्छापूर्वक आमन्त्रित किया जाता है। इसे देवता के प्रति भक्ति भाव प्रदर्शन का प्रमाण माना जाता है। वस्तुतः यह देवता और कोई नहीं 'आत्म देव' ही है। अपने आपको परिष्कृत करके देव के स्तर तक पहुँचाने के प्रयास ही वास्तविक साधनाएँ हैं। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तप साधन—विधान का ढाँचा खड़ा किया गया है।

विज्ञान पक्ष की साधना में तपश्चर्या को केन्द्र मान कर चलने वाले विधि-विधानों का उद्देश्य है—प्रसुप्ति से निवृत्ति—मूर्छना से मुक्ति।

इसके लिए गर्मी उत्पन्न करनी पड़ती है। गर्मी पाकर प्रसुप्ति से मुक्ति मिलती है। सूर्योदय की वेला निकट आने पर प्राणियों की निद्रा टूटती है और वे जागते उठते एवं कार्यरत होते हैं। रात्रि में कलियाँ सिकुड़ी पड़ी रहती हैं: पर जैसे ही सूर्य निकलता है वे हँसने खिलने लगती हैं। मानवी सत्ता के अन्तर्गत बहुत कुछ है। अत्युक्ति न समझी जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि सब कुछ है: किन्तु है वह मूर्छित। इस मूर्छना के जगाने के लिए धूप, आग बिजली आदि से उत्पन्न बाहरी गर्मी से काम नहीं चलता। उसका प्रभाव भौतिक जगत में ही अपनी हल-चल उत्पन्न कर के रह जाता है। चेतना पर चढ़ी हुई मूर्छा को हटाने के लिए तप करना पड़ता है। उसके लिए भीतरी गर्मी की आवश्यकता पड़ती है। इसे कैसे उगाया और बढ़ाया जा सकता है, इसी विज्ञान को अध्यात्म की भाषा में तप कहते हैं।

तप की स्थूल प्रक्रिया सांकेतिक विधि यह है जिससे शरीर की स्वाभाविक सुख सुविधा को—वासना को रोका जाता है और मन की स्वाभिक चंचलता को—अहंता और लोलुपता को प्रतिबन्धित किया जाता है। मनोनिग्रह इसी का नाम है। निरोध से शक्ति उत्पन्न होती है, खुले मुँह की पतीली में खौलता हुआ पानी भाप बनकर उड़ता रहता है और उसके तिरोहित होने में कोई अचंभे जैसी बात मालूम नहीं पड़ती, पर जब उसी को कड़े ढक्कन में बन्द कर दिया जाय तो फैली हुई भाप उस बर्तन को फाड़ कर भयंकर विस्फोट कर सकती है। स्टोव और प्रेसर कुकर फटने से दुर्घटना इसी निरोध का परिणाम होती हैं। इन्द्रियनिग्रह और मनोनिग्रह का महात्म्य इसी आधार पर बताया जाता है। ब्रह्मचर्य की महत्ता का रहस्य यही है कि 'ओजस्' को निम्न-गामी अधः पतन से रोक कर ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है - उस शक्ति को गन्दी नाली में बखेरने की अपेक्षा मस्तिष्कीय चेतना में लगाया जाता

है, तो वहां लोक जगमगाने लगता है। यह निरोध का चमत्कार है।

तप साधना का दूसरा पक्ष है-मंथन। समुद्र मंथन की वह पौराणिक आख्यायिका सर्व विदित है जिसमें देव-दानवों ने मिल कर समुद्र मथा था और चौदह बहुमूल्य रत्न पाये थे। जीवन एक समुद्र है। इसमें इतनी रत्न राशी भरी पड़ी है जिनकी संख्या सीमित नहीं की जा सकती। सिद्धियों और रिद्धियों की गणना अमुक संख्या में की जाती है, पर वह साधकों की अपनी अनुभूति भर है जिसने जैसा उसने उतना पाया बताया। समुद्र बहुत विस्तृत है। कोई इसमें कितना घूम सके और कितना पा सके इतने भर से यह अनुमान लगाना उचित नहीं कि समुद्र की समग्र सम्पदा इतनी स्वल्प ही है।

जीवन सिन्धु में से श्रेष्ठ रत्नों को निकालने के लिए सामान्य से अधिक पुरुषार्थ एवं साहस की आवश्यकता पड़ती है। इनका जागरण और विकास तप साधना के माध्यम से हो सकता है—होता है। जो इन्हें विकसित कर लेता है वह जीवन की बहुमूल्य संपदाओं का स्वामी बन जाता है—महामानव बन जाता है। प्रखरता का अभाव मनुष्य को सब प्रकार सम्पन्न होते हुए भी दीन हीन ही बनाये रहता है। इस तथ्य के अनेक प्रमाण सामान्य जीवन क्रम में देखे जा सकते हैं। कई व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से समर्थ और मानसिक दृष्टि से सुयोग्य होते हैं, पर साहस का अभाव होने से वे कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठा पाते। शंका-कुशंकाओं से ग्रस्त रहने—आपत्तियों की—असफलताओं की सम्भावना उन्हें पग-पग पर डराती रहती है। थोड़ी-सी कठिनाई आने पर डरे घबराये दिखाई पड़ते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रगति के उपयुक्त अवसर सामने होने पर भी उन्हें गँवाते और गई-गुजरी स्थिति में आजीवन पड़े रहते हैं। इसके विपरीत साहसी व्यक्ति स्वास्थ्य, शिक्षा, साधन एवं उपयुक्त अवसर न होने पर भी दुस्साहस भरे कदम उठाते और आश्चर्य-

चकित करने वाली सफलताएँ प्राप्त करते देखे जाते हैं। ऐसे ही दुस्साहसी व्यक्ति इतिहास के पृष्ठों पर अपना नाम अमर करते देखे जाते हैं। किसी भी क्षेत्र की महत्वपूर्ण सफलताएँ पाने के लिए ऐसी ही साहसिक मनोभूमि का होना आवश्यक है।

जीवन के हर क्षेत्र में पग-पग पर संघर्ष की आवश्यकता होती है। प्रस्तुत कठिनाइयों को चीरते हुए ही प्रगति सम्भव होती है। नाव पानी को चीरते हुए आगे बढ़ती है। मकान बनाने का कार्य नींव खोदने से आरंभ होता है। खेत को बोने से पहले उसे जोतना पड़ता है। अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए जीव जिन पशु-प्रवृत्तियों का अभ्यस्त होता है, उन्हें घटाये-हटाये बिना मानवी गरिमा के अनुरूप गुण-कर्म स्वभाव उपार्जित नहीं किया जा सकता। आन्तरिक अवांछनीयताओं को हटा-कर उस स्थान पर उत्कृष्टताओं की स्थापना करने के प्रयोग को साधना कहते हैं। यह साहसिकता के बिना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। बाहरी शत्रुओं से लड़ने के लिए जितना युद्ध कौशल चाहिए उतना ही शौर्य साहस अपने भीतर घुसे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-मत्सर जैसे आत्म शत्रुओं से लड़ने और परास्त करने के लिए आवश्यक होता है। दुर्बल मनः स्थिति के लोग अपनी भीतरी कमजोरियों को जानते हैं, उन्हें हटाना चाहते हैं, पर साहस के अभाव में उनके साथ लड़ने का पराक्रम प्रदर्शित नहीं कर सकते। फलतः आत्म-सुधार एवं आत्म-निर्माण का प्रयोजन पूरा कर सकना उनसे बन ही नहीं पड़ता। अपने को असहाय अनुभव करते हैं और थक कर प्रयत्न ही छोड़ बैठते हैं।

बाहरी युद्ध जीतने के भौतिक लाभ हैं किन्तु आंतरिक युद्ध में जीतने से तो विभूतियों का इतना बड़ा भण्डार हाथ लगता है जिसे पाकर मनुष्य जीवन सच्चे अर्थों में सार्थक माना जा सकता है। साधना को संग्राम कहा गया है। 'साधना समर' शब्द का अध्यात्म विज्ञान में

बार-बार उल्लेख होता है। देवासुर संग्राम के अनेकानेक प्रसङ्ग पौराणिक उपाख्यानों में आते हैं, यह अलंकारिक रूप मनुष्य जीवन के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग क्षेत्रों में सदा होते रहने वाले संघर्षों का ही चित्रण है। दुर्गा सप्तशती और गीता की पृष्ठ भूमि इसी संघर्ष के आधार पर खड़ी है भगवती दुर्गा द्वारा असुरों का संहार और कृष्ण द्वारा अर्जुन के माध्यम से महाभारत का आयोजन प्रकारान्तर से इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि साधना समर के क्षेत्र में प्रवेश किये बिना उन अव-रोधों से पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता जो मनुष्य को दयनीय दुर्दशा में डाले रहने के लिए प्रधान रूप से उत्तरदायी हैं।

भगवान के अवतार के प्रसिद्ध प्रयोजन दो हैं (१) अधर्म का उन्मूलन (२) धर्म का संस्थापन। अनाचार को निरस्त करके ही सदाचार की स्थापना हो सकती है। अस्तु सिक्के के दो भागों की तरह उन्हें परस्पर पूरक एवं अविच्छिन्न भी कह सकते हैं। उद्यान को विक-सित करने वाला माली जहाँ खाद-पानी लगाता है वहाँ निराई, गुड़ाई, छटाई, रखवाली जैसी कड़ाई भी बरतता है। आत्मोत्कर्ष के लिए जहाँ सत्प्रवृत्तियों का विकसित किया जाना, पुण्य प्रयोजनों को अपनाना अभीष्ट है, उतना ही दुष्प्रवृत्तियों को उखाड़ फेंकने के लिए तत्परता बरतना भी आवश्यक है। भगवान के अवतार इस दुहरी क्रिया प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिए ही होते रहे हैं। व्यक्तिगत जीवन में भी प्रगति पथ पर बढ़ने वालों को इसी मार्ग का अवलम्बन करना होता है। संक्षेप में इसे यों कह सकते हैं कि जिसके अन्तःकरण में भगवान की दिव्य ज्योति का अवतरण होगा, उसे अवांछनीयताओं के विरुद्ध लोहा लेने के लिए पराक्रम प्रदर्शित करना होगा और सत्प्रवृत्तियों के अभि-वर्धन में जुटना होगा। यह दोनों ही प्रयोजन जिस आन्तरिक साहस द्वारा सम्पन्न होते हैं, इसी को 'आत्म बल' कहा गया है। तप साधना

का एक उद्देश्य आत्मबल का उपार्जन भी है।

कुविचार मस्तिष्क पर छाये रहते हैं और शरीर को अकर्म करने की आदत पड़ी होती है- यदि पुराने अभ्यासों को काटा, उखाड़ा न जाय तो फिर सत्कर्म के लिए आगे बढ़ चलना कैसे बन पड़ेगा। स्पष्ट है कि कुविचारों को सद्‌विचारों से ही निरस्त किया जा सकता है। काँटे से काँटा निकालने और विष से विष को मारने की उक्ति प्रसिद्ध है। मस्तिष्क में यदि कामुकता के विचार उठते रहते हैं, तो उनके काटने का एक ही उपाय है कि ब्रह्मचर्य के—पवित्र दृष्टिकोण के समर्थक विचारों को मस्तिष्क में जमा किया जाय। इस मार्ग पर चलने वाले हनुमान, भीष्म, शंकराचार्य, दयानन्द आदि महामानवों के चरित्रों का चिन्तन किया जाय; उस पक्ष के समर्थनवाले तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरणों को पर्याप्त मात्रा में स्वाध्याय, मनन आदि की सहायता से संग्रह किया जाय। उन पर बार-बार गहराई से विचार किया जाय। कामुकता तथा शालीनता के दोनों पक्षों को अपनी-अपनी बात के समर्थन का अवसर देकर यदि विवेक द्वारा निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह फैसला करने का अवसर दिया जाय तो पुराने अवांछनीय चिन्तन अभ्यास को आसानी से काटा जा सकता है। शारीरिक कुप्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी यही बात है। नशा, व्यसन, आलस्य जैसे दुर्गुणों से निपटना, कठोर संकल्प एवं दृढ़ निश्चय से ही सम्भव हो सकता है। व्यक्तित्व का कायाकल्प कर सकने वाले व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में शूर-वीर कहे जाते हैं और उन्हीं को भौतिक जगत की प्रत्येक दिशा में बढ़ चलने का द्वार खुला मिलता है।

अण्डा तब फूटता है जब उसके भीतर के बच्चे की अन्तःचेतना उस परिधि को तोड़ कर बाहर निकलने की चेष्टा करती है। प्रसव पीड़ा और प्रजनन की घड़ी तब आती है जब गर्भस्थ शिशु की चेष्टा उस

बन्धन को तोड़ कर मुक्ति पाने की आतुर चेष्टा में संलग्न होती है। इन शिशुओं के संकल्प गिरे-पड़े हों तो वे भीतर ही सड़-गल कर नष्ट हो जायेंगे। प्रगति के लिए पराक्रम और अवांछनीयताओं के विरुद्ध संघर्ष का शौर्य साहस अपना कर ही किसी को उत्कृष्ट स्तर तक बढ़ चलने का अवसर मिलता है। पराक्रम विहीन व्यक्ति को प्रतिपक्षी शक्तियाँ नष्ट-भ्रष्ट करके रख देती हैं। भगवान बुद्ध ने यों अपने समय के अनाचार से शूर वीरों की तरह लड़ाई लड़ी थी पर पीछे उनके अनुयायियों ने बौद्ध धर्म का एक सरल पक्ष ही ध्यान में रखा—अहिंसा। यह भुला दिया गया कि आक्रमणकारी हिंसा की दुष्टता से लोहा लिये बिना अहिंसा की रक्षा नहीं हो सकती। हुआ भी यही। अहिंसा की आड़ में कायरता ने अड्डा जमा लिया। लोग जप तप का सरल आश्रम तो पकड़े रहे पर अनीति से जूझने की प्रखरता को व्यर्थ समझने की एकाकी दृष्टि अपनाते रहे। मध्य एशिया के लुटेरों ने इस दुर्बलता को समझा और वे भारत पर चढ़ दौड़े। शौर्य गँवा देने पर ये बहुसंख्यक और साधन-सम्पन्न होते हुए भी थोड़े-से लुटेरों का सामना न कर सके और पराधीनता के पाश में जकड़ गये। हमारी हजार वर्ष की गुलामी आक्रमणकारियों की वरिष्ठता का नहीं—हमारी आन्तरिक दुर्बलता का काला पृष्ठ है—जिसे एकांगी अहिंसा वृत्ति को अपना कर भीरुता एवं कायरता के रूप में स्वभाव गत बना लिया गया था। पराक्रम गँवा बैठा जाय तो मक्खी, मच्छर, खटमल, पिस्सू, चूहे एवं शरीर में घुसे अदृश्य रोग कीटाणु तक अपने अस्तित्व के लिए खतरा बनकर खड़े हो जायेंगे। चोर, उचक्के, गुण्डे, ठग, आततायी अपने ही इर्द-गिर्द भरे पड़े होते हैं और उन्हें जब दुर्बलता का पता चलता है तो अति उत्साहपूर्वक आक्रमण करने के लिए टूट पड़ते हैं। प्रगति के लिए न सही, आत्म-रक्षा तक का उद्देश्य बिना प्रचंड पराक्रम विकसित किये

सम्भव नहीं हो सकता । पराक्रम प्राण का गुण है इसी को पुरुषार्थ भी कहते हैं । प्राणवान पुरुषार्थी को ही पुरुष कहा गया है । नर और पुरुष में अन्तर है । पुरुष शब्द पुरुषार्थी नर और नारी दोनों के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है । इसलिए महापुरुष शब्द के अन्तर्गत महान नारियों की भी गणना होती है । यदि ऐसा न होता तो महान नारियों की उपेक्षा भावना ही समझी जाती अन्यथा महापुरुष की तरह महानारी का भी उल्लेख इतिहास पुराणों एवं शास्त्रों में रहा होता ।

आत्म-बल इसी आन्तरिक ऊर्जा का नाम है जो मनुष्य को भौतिक और आत्मिक क्षेत्र में प्रबल पुरुषार्थ और अनुपम साहस का संचार कर देती है । आत्म-बल हीन मनुष्य कोई भी कड़ा कदम उठाने में झिझकता है । सांसारिक प्रगति हो या आध्यात्मिक प्रगति, दोनों ही स्थितियों में उसकी आवश्यकता पड़ती है । तपस्वी व्यक्ति में सहज क्रम से ही उसका विकास होता चलता है । कठिनाइयों से भयभीत होने की अपेक्षा तपस्वी उन्हीं में रस लेने लगता है । उस स्थिति में साधक किसी भी सफलता की उचित कीमत चुकाकर उसका अधिकारी बनने की स्थिति में अपने आपको पाता है ।

चेतना का उच्चस्तरीय प्रशिक्षण देना योग समझा जाय और क्रिया-कलाप में सुव्यवस्था का आरोपण तप माना जाय । इसके लिए कई तरह के लिये प्रयोगात्मक अभ्यास करने पड़ते हैं । पहलवान बनने के लिये अखाड़े में जाकर छोटी छोटी कसरतों का सिलसिला शुरू करना पड़ता है । कसरतों की खिलवाड़ और दंगल में कुश्ती पछाड़ कर यशस्वी होना दो अलग स्थितियां हैं, पर दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है ।

दंगल में कुश्ती पछाड़ना बड़ा ही गौरव की बात समझी जाती

है—उसके सामने अखाड़ों में सामान्य कसरत नगण्य लगती है। किन्तु समझदार व्यक्ति जानते हैं कि दंगल की कुश्ती पछाड़ने की स्थिति तक उन्हीं खिलवाड़ जैसे अभ्यासों के माध्यम से पहुँचा जाता है। इस प्रकार जीवन की लौकिक पारलौकिक सफलतायें प्राप्त करने की क्षमता मनुष्य तप साधना द्वारा अर्जित करता है। पौराणिक उपाख्यानों से लेकर वर्तमान काल के महापुरुषों तक के जीवन की अद्भुत सफलताओं के पीछे किसी न किसी तप साधना के आधार की झलक पायी जा सकती है। हम भी उसे जीवन में अपनाकर क्रमशः अधिकाधिक प्रगति के अधिकारी बन सकते हैं।